भारतीय काव्य ग्रन्थ माला नं० १ - पुष्प

मल्लिनाथविरचित-सञ्जीविनीसमेतम्

रघुवंशमहाकाव्यम्

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

सर्गः

व्याख्याकार:

पं० जितेन्द्राचार्य



भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी • दिल्ली

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

11.4.812..		

रघुवंशमहाकाव्यम्

मल्लिनाथविरचित-सञ्जीविनीसमेतम्

(६-७वाँ सर्ग)

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

आचार्य पं० श्री शिवदत्त मिश्र शास्त्री

व्याकरणाचार्य, साहित्यवारिधि

एवं

पं० श्री जितेन्द्राचार्य

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

१. पो० बा० नं० १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी–१

२. १ यू० बी० जवाहर नगर, बैंग्लोरोड, दिल्ली–७

प्रथम संस्करण : १९

मूल्य : ४.००

मुद्रक :

वीरेन्द्र प्रताप सिंह

नवभारत-प्रेस

औरंगाबाद, वाराणसी–१

नाम रामभास्कर दुबे
कक्षा पूर्वमध्यमा

भूमिका

कवि कालिदासका जीवन परिचय

संस्कृत साहित्यके अध्ययन-अध्यापन कार्यरत छात्र एवं विद्वानोंके समक्ष कवि-कुल-शिरोमणि कालिदास के विषयमें कुछ कहना या लिखना सूर्य को दीपक दिखानेके समान है। क्योंकि संस्कृत कवियों में वाल्मीकि एवं व्यास के पश्चात् जैसी प्रतिष्ठा कालिदास को मिली वैसी अन्य किसी कवि को नहीं। यही नहीं,अपितु भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों साहित्यिक मापदण्डों की कसौटी पर कवि कालिदास संस्कृत भाषा के सर्व-श्रेष्ठ कवि हैं, जो देश और समय की सीमा में नहीं बाँधे जा सकते। किंवदन्ती के अनुसार युवा अवस्था में कालिदास अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति थे। जिस वृक्षकी डाल पर बैठे थे उसीको कुल्हाड़ीसे काट रहे थे। समस्त विद्वानोंने इनकी मूर्खता को देखकर परम विदुषी विद्योत्तमा से कहा कि आपसे भी विशिष्ट विद्वान् व्यक्ति कोई आ गया है। यहीं तक नहीं, बल्कि विद्योत्तमा से परास्त विद्वानों ने ईर्ष्या वश कालिदाससे विवाह भी करवा दिया।

किसी दिन जब वे दोनों रंग महल की छत पर बैठे थे उस समय ऊँटों का समूह देखकर कालिदास ने विद्योत्तमा द्वारा प्रश्न करने पर कि यह झुण्ड किसका है ? इसपर कालिदासने 'उष्ट्र' की जगह 'उट्ट्र' यह शब्द कहा। इसे सुनकर विद्योत्तमाने क्रोध वश कालिदास को छत पर से नीचे ढकेल दिया। संयोग वश तत्क्षण वे काली के चरणों पर जा गिरे। उस समय प्रसन्न होकर काली ने उनसे कहा कि 'वरदान मांगो' परन्तु कालिदास इसका अभिप्राय न समझने के कारण (विद्या के ढकेलने के कारण) उन्होंने समझा कि काली ने कहा है 'कैसे तुम गिरे ?' इस पर ऊपर की ओर अंगुलि निर्देश करते हुए विद्या शब्द का उच्चारण किया अर्थात् विद्या ने ढकेला है। इसपर काली अत्यन्त प्रसन्न होकर 'तथास्तु' (वैसा ही हो) इस प्रकार कहा।

तदनन्तर वे पुनः अपनी पत्नी विद्या के द्वार पर जाकर सिकड़ी खटखटाने के बाद विद्या के 'कौन है ?' ऐसा पूछने पर उन्होंने कहा कि 'अस्ति कश्चिद् वाग्-विशेषः' (अर्थात् कोई बोलने वाला व्यक्ति है) इन्हीं पदों पर कविकुल-शिरोमणि ने 'अस्ति' पद से 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' से कुमार सम्भव। 'कश्चित्' पद से 'कश्चित् कान्ता विरहगुरुणा' से मेघदूत। 'वाक्' पद से 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' से परम प्रसिद्ध सर्वोच्च महाकाव्य रूपसे रघुवंश का निर्माण किया। 'विशेष' पद से विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञान शाकुन्तल आदि नाटकों का निर्माण कर अभिमानिनी विद्योत्तमा का मान-मर्दन किया।

एक बार भारतीय कवि-सम्मेलन में श्रेष्ठ कवियों की गणना होने लगी, उस समय कालिदास को कनिष्ठिका अंगुली का स्थान मिला। तदनन्तर कालिदास से श्रेष्ठ कवियों के स्थान के लिए उत्तरोत्तर अंगुलियों का स्थान माना गया, किन्तु कालिदास से उत्तम रचना वाले विद्वानों के अभाव के कारण कनिष्ठिका अंगुली के पास की अँगुली का नाम अनामिका हो गया। इस विषय में एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—

'पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥'

कालिदास का समय

कविकुल शिरोमणि महाकवि कालिदास ने अपनी स्थिति एवं रहन-सहन तथा प्रशंसा का वर्णन अपने रचित महा काव्य और नाटकोंमें कहीं भी निर्दिष्ट नहीं किया है। अतः इनके स्थिति-काल का समय वास्तविक रूपसे कहना असम्भव ही है तथापि कुछ इतिहासकारों का कहना है कि महा कवि कालिदास गुप्त वंशके चक्रवर्ती राजा 'कुमार गुप्त' के समय में हुए। इसीलिए 'स गुप्तमूलप्रत्यन्तः' (रघु. सर्ग. ४, श्लोक २६) में गुप्त शब्द निर्दिष्ट है और 'आकुमारकथोद्घातम्' (रघु. सर्ग ४, श्लोक २०) में कुमार शब्द प्रयुक्त होने से कुमार गुप्त के समय में हुए। परन्तु इस प्रकार का कथन श्लोकों के पदों से खींच तान कर अनर्गल अर्थ लगाना यह कहाँ तक उचित है इसे विद्वान्गण ही समझें।

कितने ही पाश्चात्य विद्वान् इनकी स्थिति ईसा की छठी शताब्दी, ईसा की पंचम शताब्दी तथा ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी मानते हैं। ईसा के छठी शताब्दी के मत प्रवर्तक डॉ० फर्ग्युसन थे। उनका कहना है कि ५४४ ई० में राजा विक्रमादित्य ने हूणों को परास्त कर उसी विजय स्मृति में अपना संवत् चलाया। यही कालिदास के विक्रम थे। डॉ० मैक्समूलर ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। डॉ० हार्नली का कथन है कि कवि कालिदास छठी शताब्दी के राजा यशोधर्मा के आश्रित थे। उसी यशोधर्मा के दिग्विजय के आधार पर रघुवंश महा काव्य में रघु के दिग्विजय की रचना की। परन्तु उक्त मत पूर्ण भ्रान्त है। कारण कि ५४४ ई० में कोई भी विक्रमादित्य रहे भी हों तो वे हूणादि हो सकते हैं शकारि नहीं। संसार के इतिहास में किसी भी संवत् को आज चलाकर ६०० वर्ष पूर्व प्राचीनता के लिए ढकेलने का कोई भी दृष्टान्त उपलब्ध नहीं। ४७३ ई० के मन्दसौर शिलालेख में मेघदूत एवं ऋतु संहार के पद्यों का स्पष्ट निर्देश किया गया है। अतः ईसा की छठी शताब्दी में कालिदास की स्थिति निराधार है। ईसा के पंचम शताब्दी के प्रवर्तक पाश्चात्य एवं कतिपय आधुनिक भारतीय भी हैं। उनका कहना है कि, गुप्त काल भारतीय साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता था। सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही विक्रमादित्य की उपाधि ,धारण कर शकों को परास्त किया था। कालिदास के विक्रमोर्वशीय, कुमार सम्भव आदि नामकरण एवं अपनी रचना में प्रायः गुप् धातु का अधिक प्रयोग इस बात को स्पष्ट सिद्ध करता है कि कवि कालिदास गुप्त काल में थे।

कालिदास का जन्म-स्थान

वास्तविक रूप में यद्यपि कालिदास के जन्म के विषय में प्राच्य-पाश्चात्य इतिहासकारों ने प्रामाणिक रूप से कुछ भी निर्दिष्ट नहीं किया है तथापि मेरे मत से तो वे उज्जयिनी नगरी एवं उसके समीपवर्ती प्रान्त के ही मालूम पड़ते हैं। क्यों कि उन्होंने पूर्व मेघदूत २७वें श्लोक तथा ३१वें श्लोक में स्पष्ट निर्दिष्ट किया है कि—

'वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्।
सौधोत्सङ्ग-प्रणय-विमुखो मा स्म भूरुज्ज़ यिन्याः॥'

(पू० मेघ०, २७)

तथा--

'यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः।
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥'

(पू० मेघ०, ३१)

इन श्लोकों के अनुसार महाकाल, सिप्रा एवं उज्जयिनी के विस्तृत विवरण करने के कारण वे उज्जयिनी तथा उसके समीपवर्ती भाग के निवासी थे ऐसा मालूम पड़ता है। कितने ही विद्वान् उन्हें बंगाल, कश्मीर तथा विदर्भ देश के निवासी बताते हैं, जो कि नितान्त भ्रममूलक है।

कालिदास की रचनाएँ

'अस्ति कश्चिद् वाग्-विशेषः' के निर्देशानुसार कुमारसम्भव, मेघदूत, रघुवंश ये तीनों विश्व-विश्रुत काव्य रूपमें निर्दिष्ट हैं। जिनका अनुवाद उद्भट प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण भाषाओं में किया है। विशेष पद से मालविकाग्नि मित्र, विक्रमोर्वशीय, ऋतुसंहार, कुन्तलेश्वर दौत्य, घट खर्पर काव्य, राक्षस काव्य, दुर्घट-काव्य, नलोदय, वृन्दावन काव्य, विद्वद्विनोद काव्य, पुष्पबाणविलास, नवरत्नमाला, ज्योतिर्विदाभरण, अम्बास्तव, काली स्तोत्र, गङ्गाष्टक, चण्डिकादण्डक, श्यामला-दण्डक, मकरन्दस्तव, लक्ष्मीस्तव, लघुस्तव, कल्याणस्तव, शृङ्गारसार, शृङ्गार तिलक, सेतुबन्ध आदि काव्य, नाटक और मुक्तक रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ही तथापि जो स्थान कालिदास निर्मित अभिज्ञानशाकुन्तल एवं श्रुतबोध को प्राप्त है वह किसी को भी नहीं। अभिज्ञान शाकुन्त का भी अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी-अपनी शैली के अनुसार अपनी भाषा में लिखा है। इसके विषय में स्पष्ट निर्देश किया है—

'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शाकुन्तलम् ।
तत्राऽपि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥'*

इसी प्रकार श्रुतबोध नामक छन्दःशास्त्र यद्यपि अत्यन्त लघुरूप में कालिदास ने लिखा है परन्तु उसकी विशेषता यह है कि जिन-जिन छन्दों का निरूपण श्लोकों द्वारा किया गया है वे उन्हीं-उन्हीं छन्दों एवं मात्राओं (ह्रस्व-दीर्घ) में निर्दिष्ट है। अन्यत्र गणोंमें छन्दों का वर्णन है।

चरित्र-चित्रण

महाकवि कालिदास श्रृंगार रस एवं उपमा के अपने समय में उद्भट विद्वान् थे। इसीलिए तो कवि-शिरोमणि बाणभट्ट ने अपने अपूर्व पदव्यंजना नामक ग्रन्थ में कालिदास के विषय में निम्नप्रकार से निरूपण किया है—

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुर - सान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥'

अर्थात् कालिदास की रस भरी सुमधुरसूक्तियों में आम्रमंजरी के समान किसको आनन्द नहीं प्राप्त होता? अपितु सभी को प्रप्त होता है।

यों तो, कालिदास समस्त अलंकार रचना में प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु उपमा अलंकार में उनके समक्ष कोई भी कवि-गण नहीं टिक पाते। जैसे—

'मार्गाचल-व्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।'

'सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।'

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' आदि सैकड़ों उपमाएँ प्राप्त होती हैं, परन्तु राम-रावण के महा भयंकर युद्ध में उपमा निरूपण करते समय कालिदास ने कोई भी उपमा न देते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'राम-रावणयोर्युद्धं राम-रावण-योरिव ।'

इसी प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के विषय में कल्पतरु, सुमेरु, चिन्तामणि, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, कामदेव, राजा बलि एवं कामधेनु आदि

*कहीं पर चतुष्टयम् के स्थान पर चतुर्थकम् भी पाठ है।

विशिष्ट सुन्दर उपमाओं के रहने पर भी उन उपमाओं का खण्डन करते हुए अन्य कविगणों से प्रश्न किया है, जो अत्यन्त चमत्कृत है--.

'काष्ठं कल्पतरुः सुमेरुरचलश्चिन्तामणिः प्रस्तरः
सूर्यस्तीव्रकरः शशिः क्षयकरः क्षारो हि वारांनिधिः।
कामो नष्टतनुर्बलिर्दितिसुतो नित्यं पशुः कामगौः
नैतांस्तान् तुलयामि भो रघुपते.! केनोपमा दीयताम् ?॥'

यद्यपि महाकवि कालिदास परम शैव थे तभी तो उन्होंने अपने प्रत्येक काव्य में शिव की वन्दना की है। अपने सुप्रसिद्ध महा काव्य रघुवंश में उन्होंने 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ।' इस मांगलिक श्लोक में 'पार्वती-परमेश्वरौ' पद से शिव-पार्वती की वन्दना की है। तथापि वे परम वैष्णव भी थे। 'पार्वती-परमेश्वरौ' पद से शिव-पार्वती एवं रमा और विष्णु की वन्दना का भी बोध होता है। यथा--'पार्वतीं पाति पार्वतीपः (शिवः), रमाया ईश्वरः रमेश्वरः (विष्णुः), पार्वतीपश्च रमेश्वरश्च इति पार्वती-परमेश्वरौ, इस प्रकार समास करने से शिव और विष्णु दोनों देवों की वन्दना कालिदास ने की है। यह भी अर्थ हो जाता है।

—:*:—

रघुवंश

महाकवि कालिदास के प्रधान महाकाव्यों में रघुवंश का स्थान सर्वोच्च है। यह महाकाव्य उन्नीस सर्गों में विभक्त है, जिसमें दिलीप से लेकर अग्निवर्ण पर्यन्त, अनेक सूर्यवंशीय राजाओं के चरित्र का वर्णन है। यों तो, सूर्यवंश में अनेक प्रतापी एवं प्रसिद्ध राजा हुए हैं। उनमें सर्वश्रेष्ठ राजा रघु ही अपने पिता दिलीप से भी अधिक शक्तिशाली, पराक्रमी तथा दिग्विजयी हुए। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ के अश्व को इन्द्र द्वारा अपहृत कर लेने पर रण-स्थल में देवराज इन्द्र को भी परास्त कर अपना अश्व वापस कर (लौटा) लिया। यद्यपि इस महाकाव्य का नाम सर्वप्रधान राजा दिलीप के नाम से 'दिलीपवंश' ऐसा होना चाहिए था तथापि सर्वतो भावेन कविकुल-शिरोमणि कालिदास ने रघु की ही प्रधानता मानकर इस महाकाव्यका नाम 'रघुवंश' इस रूपमें निर्दिष्ट किया। कारण कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामको राघव शब्द से निर्दिष्ट किया गया है न कि दिलीप शब्द से।

प्रकृत संस्करण के सम्बन्ध में

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय एवं अन्यान्य परीक्षाओं में भी इस महाकाव्य के केवल छठे-सातवें सर्ग को ही रखा गया है। अतः मैंने भी पृथक् षष्ठ एवं सप्तम सर्ग का प्रकाशन किया है। ६ठे सर्ग में अज की विदर्भ यात्रा, सम्मोहनास्त्र की प्राप्ति एवं अज का स्वयंवर वर्णन बहुत ही आकर्षक और हृदयग्राही है। एवं सप्तम सर्ग में इन्दुमती का अज से विवाह तथा पराजित राजाओं द्वारा अज पर आक्रमण एवं अपने अतुल पराक्रम से अज द्वारा राजाओं को परास्त करना आदि का वर्णन बहुत ही रोचक शैली में किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का अबतक कोई इस प्रकार का परीक्षोपयोगी संस्करण प्रकाशित नहीं था। अतः परीक्षार्थी छात्रों की समस्त कठिनाइयों को ध्यान में रखकर ही यह पुस्तक तैयार की गयी है।

इसमें श्री मल्लिनाथकृत संजीविनी टीका, अन्वय, वाच्य-परिवर्तन, चन्द्रिका व्याख्या, समास, कोश,संस्कृत में श्लोकोंका भावार्थ, एवं सरल-सुबोध हिन्दी भाषार्थ दिया गया है। इसमें षष्ठ एवं सप्तम सर्ग की संक्षिप्त कथा भी दे दी गयी है, क्योंकि परीक्षामें इसके सम्बन्ध में भी प्रश्न पूछे जाते हैं। और अन्त में श्लोकानुक्रमणिका भी देकर ग्रन्थको यथा-साध्य परीक्षोपयोगी बनाने का यत्न किया गया है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि, परीक्षार्थी छात्रों को इस संस्करण से पूरी सहायता मिलेगी।

आकर्षक छपाई-सफाई तथा विशुद्ध मुद्रण के लिए भारतीय विद्या प्रकाशन के संचालक श्री रमेशचन्द्र जैन भी धन्यवाद के पात्र हैं।

अनन्तचतुर्दशी
७ सितम्बर, १९७६
भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी–५

—शिवदत्त मिश्र शास्त्री

सप्तम सर्ग की संक्षिप्त कथा वस्तु

इन्दुमती का विवाह

इधर स्वयंवर कार्य समाप्त होने पर अज के साथ महाराज भोजने अपनी भगिनी (वहन) के साथ नगर में प्रवेश किया। उधर इन्दुमती से निराश होकर अन्य राजागण अपने रूप तथा वेश-भूषा की निन्दा करते हुए अपने-अपने तम्बुओं (शिविरों) में चले गये। अज भी इन्दुमती के साथ भलीभाँति पुष्पमाला, तोरण एवं ध्वजाओं से सुसज्जित राजमार्ग में आ गये।

उससमय वर-वधू को देखने के लिए नगर की सुन्दरियाँ विह्वल हो उठीं, कोई सुन्दरी तो केश-पाशमें माला का बाँधना भूलकर जूड़े को हाथ में लिये हुए ही खिड़की में पहुँच गयी। दूसरी सुन्दरी महावर लगा रही सेविका से अपना पैर छुड़ाकर झरोखे तक पैर में लगे हुए महावर के निशान बनाती हुई एवं तीसरी एक नेत्र में काजल लगाकर तथा दूसरे नेत्र में बिना काजल लगाये ही हाथ में सलाई लिये हुए खिड़की में जा पहुँची। चौथी नारी भी साड़ी की नीवी (फुफुती) बिना बाँधे उसे योंही हाथ में पकड़े हुए खिड़की की ओर जा पहुँची। पाँचवीं सुन्दरी मोतियों की माला गूँथ रही थी, उस समय शीघ्रता में उसे छोड़कर खिड़की की तरफ इस प्रकार दौड़ पड़ी कि उस मालाके सभी मोती बिखर गये केवल डोरा ही अँगूठे में लिपटा रह गया।

इन सुन्दरियों के मुखों से व्याप्त वे खिड़कियाँ इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानो वे चंचल नेत्र रूपी भौंरों से व्याप्त, कमलों से भरे हैं। इस प्रकार वे रमणियाँ अजको देखकर अपने-अपने मनमें अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त कर कहने लगीं कि स्वयंवर करना अच्छा ही हुआ नहीं तो इन्दुमती अपने मनोनुकूल पति को कैसे प्राप्त करती? यदि विधाता इन दोनों का मिलान न मिलाता तो ब्रह्मा का इन दोनों का सौन्दर्य विधान व्यर्थ हो जाता। निश्चय ही ये दोनों पूर्व जन्म में रति एवं कामदेव रहे होंगे। अन्यथा इस इन्दुमती ने हजारों राजाओं के मध्य अपने तुल्य इन्हें कैसे प्राप्त कर

लिया। इस प्रकार की कथाएँ नगरकी सुन्दरियों के मुखसे सुनते हुए कुमार अज घर में पहुँच गये। और कामरूप के राजा का हाथ पकड़कर हथिनी से उतर कर मण्डप में पहुँच गये।

उस समय राजा भोज द्वारा मधुपर्क एवं दिये गये रेशमी दोनों वस्त्रों को अज ने धारण किया। तथा अन्तःपुरके रक्षक गण अज को साथ लेकर तत्क्षण वधू के पास मण्डपमें पहुँच गये। उस समय विधिवत् हवन कर अग्नि के साक्षिभूत पुरोहित ने विधि-विधान से अज का इन्दुमती के साथ विवाह कर दिया।

तदनन्तर राजा भोजने अन्य राजाओं का भी पूर्णरूप से आतिथ्य सत्कार कर सबको विदा किया। और अपनी बहन को भी अनेक उपहार वस्तु देकर विदा किया।

अज-द्वारा शत्रु-सेना पर विजय

जिस समय राजा अज इन्दुमती को साथ लेकर अपनी राजधानी की ओर जा रहे थे, उस समय पराजित राजाओं ने मिलकर मार्ग में अजको रोका। और उनसे घनघोर युद्ध किया। उस युद्ध में अजने प्रियम्वद गन्धर्व द्वारा प्राप्त निद्राकारक अस्त्रसे समस्त शत्रु एवं उनके सैनिक गणों को मूर्च्छित कर उनपर विजय प्राप्त किया। पुनः वे राजा लोग इन्दुमती को बिना प्राप्त किये ही अपनी-अपनी राजधानी में वापस चले गये।

तदनन्तर अजने इन्दुमती से कहा कि देखो, ये राजा लोग मुझसे तुमको छीनना चाहते थे। पति की शूर-वीरता से इन्दुमती मन-ही-मन बड़ी प्रसन्न हुई, परन्तु लज्जा के कारण स्वयं कुछ न कह कर अपनी दासी-द्वारा अज का अभिनन्दन किया।

यह सभी वृत्तान्त राजा रघुने पहले ही गुप्तचरों द्वारा सुन लिया था। अतः अपने सदृश विजयी युवराज अज को राज्यभार प्रदान कर स्वयं तपस्या करने के लिए जंगल की ओर चले गये।

●

रघुवंश-सप्तम-सर्गस्थ-

श्लोकानुक्रमणिका

इति श्लोकानुक्रमणिका समाप्ता ।

रघुवंशमहाकाव्यम्

संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

सप्तमः सर्गः

भजेमहि निपीयैकं मुहुरन्यं पयोधरम् ।
मार्गन्तं बालमालोक्याश्वासयन्तौ हि दम्पती ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥१॥

सञ्जीविनी—अथेति । अथ विदर्भनाथो भोजः सदृशेनोपयन्त्रा वरेण युक्ताम् । अत एव साक्षात्प्रत्यक्षम् । 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः । स्कन्देन युक्तां देवसेनामिव । देवसेना नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी । पूर्वं हि ब्रह्मणा निर्मिते देवसेनादैत्यसेने इन्द्रकन्येऽभूताम् । तयोः पूर्वस्याः पतित्वे स्कन्दोऽभिषिक्त इत्यागमः । तामिव स्थितां स्वसारं भगिनीमिन्दुमतीमादाय गृहीत्वा पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव । उपजातिवृत्तं सर्गेऽस्मिन् ।

अन्वयः—अथ विदर्भनाथः, सदृशेन उपयन्त्रा, युक्ताम् अत एव साक्षात् स्कन्देन युक्तां देवसेनाम् इव, स्वसारम् आदाय, पुरप्रवेशाभिमुखः बभूव ।

वाच्य०—विदर्भनाथेन स्वसारमादाय पुरप्रवेशाभिमुखेन बभूवे ।

चन्द्रिका—अथ = स्वयम्वरानन्तरं, विदर्भनाथः = भोजः, सदृशेन = उपयुक्तेन, समानेन, उपयन्त्रा = वरेण, युक्तां = सहिताम् अत एव साक्षात् = प्रत्यक्षं, स्कन्देन = कार्त्तिकेयेन युक्तां, देवसेनां = स्कन्दपत्नीम् इव, स्वसारं = भगिनीमिन्दुमतीम्, आदाय = गृहीत्वा, पुरप्रवेशाभिमुखः = नगरं गन्तुमनाः, बभूव = अभवत् ।

समासः—समानं दृश्यते इति सदृशः तेन सदृशेन, देवस्य सेना देवसेना तां

देवसनाम्, विदर्भस्य नाथः विदर्भनाथः, पुरे यः प्रवेशः पुरप्रवेशस्तस्य अभिमुखः पुरप्रवेशाभिमुखः ।

कोशः—'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः ।

भावार्थः—भोजः भर्तृयुक्तां स्वभगिनीं कार्त्तिकेयेन युक्तां देवसेनामिव गृहीत्वा विदर्भनगरे प्रवेष्टुमनाः अभवत् ।

भावार्थ—स्वयम्वर के अनन्तर भोजराज पतियुक्त अपनी भगिनी इन्दुमती को कार्त्तिकेय से युक्त देवसेना की तरह लेकर नगर की ओर चलने को तैयार हुए ॥ १ ॥

सेनानिवेशान् पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूयाः ॥ २ ॥

सञ्जीविनी—सेनानिवेशेति । भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्री भोज्या तामिन्दुमतीं प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेष्वाकृतिषु वेशेषु नेपथ्येषु च साभ्यसूया वृथेति निन्दन्तः । किं च विभाते प्रातःकाले ये ग्रहाश्चन्द्रादयस्त इव मन्दभासः क्षीणकान्तयः पृथिवीक्षितो नृपा अपि सेनानिवेशान् शिविराणि जग्मुः ।

अन्वयः—भोज्यां प्रति, व्यर्थमनोरथत्वात्, रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूयाः विभातग्रहमन्दभासः, पृथिवीक्षितः, अपि, सेनानिवेशान्, जग्मुः ।

वाच्य०—भोज्याः रूपेषु वेशेषु साभ्यसूयैः विभातग्रहमन्दभासैः पृथिवी-क्षिद्भिः अपि स्व-स्वसेनानिवेशाः जग्मिरे ।

चन्द्रिका—भोज्यां=इन्दुमतीं प्रति, व्यर्थमनोरथत्वात्=असफलाभिलाषित्वात्, रूपेषु=आकृतिषु, वेशेषु=नेपथ्येषु च, साभ्यसूयाः=वृथेति निन्दन्तः, विभातग्रहमन्दभासः=प्रातःकालीनग्रहा इव क्षीणकान्तयः, पृथिवीक्षितः=राजानः अपि, सेनानिवेशान्=शिविराणि, जग्मुः=अगच्छन् ।

समासः—व्यर्थः मनोरथो येषां ते, तेषां भावः व्यर्थमनोरथत्वं तस्मात्, अभ्यसूयया सहिताः साभ्यसूयाः, विभाते ये ग्रहाः विभातग्रहास्तेषामिव मन्दभासः, सेनायाः निवेशाः सेनानिवेशास्तान् सेनानिवेशान् ।

कोशः—'अक्षान्तिरीर्ष्यासूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' इत्यमरः ।

भावार्थः—स्वयंवरे समागता राजानः अपि इन्दुमतीं प्रति भग्नाशाः सन्तः

तस्याः लावण्यादिकं निन्दन्तः प्रभातकालीनचन्द्र इव क्षीणकान्तयो भूत्वा स्वशिविराणि अगच्छन् ।

भावार्थ—इन्दुमती की प्राप्ति में असमर्थ राजा लोग भी उसकी आकृति तथा रूप की निन्दा करते हुए प्रातःकालीन चन्द्रमा के समान क्षीण कान्ति होकर अपने शिविर को लौट गये ॥ २ ॥

सान्निध्ययोगात् किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥३॥

सञ्जीविनी—सान्निध्येति । तत्र स्वयंवरक्षेत्रे शच्या इन्द्राण्याः । सन्निधिरेव सान्निध्यम् । तस्य योगात्सद्भावाद्धेतोः स्वयंवरस्य क्षोभकृतां विघ्नकारिणामभावः किल । किलेति स्वयंवरविघातकाः शच्या विनाश्यन्त इत्यागमसूचनार्थम् । तेन हेतुना काकुत्स्थमजमुद्दिश्य समत्सरोऽपि सवैरोऽपि क्षितिपाललोकः शशाम नाक्षुभ्यत् ।

अन्वयः—तत्र शच्याः सान्निध्ययोगात् स्वयंवरक्षोभकृताम् अभावः किल, तेन काकुत्स्थम् उद्दिश्य समत्सरः अपि क्षितिपाललोकः शशाम ।

वाच्य०—काकुत्स्थम् उद्दिश्य समत्सरेण अपि क्षितिपाललोकेन शेमे ।

चन्द्रिका—तत्र = स्वयंवरे, शच्याः=इन्द्राण्याः, सान्निध्ययोगात् = स्थापनसद्भावाद्धेतोः, स्वयंवरक्षोभकृतां = स्वयंवरविघ्नकारिणाम्, अभावः = अनुपस्थितिः, किल, तेन = हेतुना, काकुत्स्थं=अजं, उद्दिश्य = अभिलक्ष्य, समत्सरः = , सवैरः अपि, क्षितिपाललोकः = राजगणः, शशाम = नाक्षुभ्यत् ।

समासः—स्वयं वृणुते (कन्या पतिं) यस्मिन् इति स्वयम्वरः, तस्मिन् स्वयंवरे, क्षोभं कुर्वन्तीति स्वयंवरक्षोभकृतस्तेषाम् भावः स्वयंवरक्षोभकृताम् ।

कोशः—'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः ।

भावार्थः—इन्दुमती स्वयंवरे इन्द्राणीकृपया कश्चिदपि विघ्नं कर्तुं नापारयत् । अतः अजं प्रति बद्धवैरोऽपि राजगणः तस्मै नाक्रुध्यत् ।

भाषार्थ—इन्दुमती के स्वयंवर में इन्द्राणी के विद्यमान रहने के कारण किसी को भी विघ्न करनेका साहस न हुआ, अतः अज के प्रति वैर रखते हुए भी राजा लोग स्वयं शान्त हो गये ॥ ३ ॥

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥४॥

सञ्जीविनी—तावदिति । 'यावत्तावच्च साकल्ये' इत्यमरः । तावत्प्रकीर्णाः साकल्येन प्रसारिता अभिनवा नूतना उपचाराः पुष्पप्रकरादयो यस्य तं तथोक्तम् । इन्द्रायुधानीव द्योतितानि प्रकाशितानि तोरणान्यंकाश्चिह्नानि यस्य तम् । ध्वजानां छाया ध्वजच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तेन निवारित उष्ण आतपो यत्र तं तथा राजमार्गं स वरो वोढा वध्वा सह प्राप विवेश ।

अन्वयः—तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारं, इन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कं, ध्वजच्छायनिवारितोष्णं राजमार्गं स वरः वध्वा सह प्राप ।

वाच्य०—वरेण वध्वा सह प्रकीर्णाभिनवोपचारं, इन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कं ध्वजच्छायनिवारितोष्णं राजमार्गम् अप्राप्यत ।

चन्द्रिका—तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारं = प्रसारितनूतनपुष्पप्रकरादिक, इन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कं = इन्द्रधनुरिव प्रकाशिततोरणचिह्नं, ध्वजच्छायनिवारितोष्णं = ध्वजच्छायनिवारितातपं, राजमार्गं स वरः = वोढा वध्वा सह, प्राप = विवेश ।

समासः—प्रकीर्णम् अभिनवम् उपचारं यस्य तं प्रकीर्णाभिनवोपचारं, इन्द्रायुधानिव द्योतितं तोरणानां अङ्कं यस्य तं इन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कं, ध्वजानां छाया ध्वजच्छायं ध्वजच्छायैः निवारितम् उष्णं यस्य तं ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ।

कोशः—'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारं' 'केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

भावार्थः—अजः अपि इन्दुमत्या सह नूतनपुष्पप्रकरादिशोभितं, इन्द्रायुधमिव प्रकाशिततोरणादि-चिह्नयुतं ध्वजच्छायैः संरुद्धातपं राजमार्गं विवेश ।

भाषार्थ—अज भी इन्दुमती के साथ नगर के राजमार्ग पर आये । वह राजमार्ग अज के स्वागत में नूतन पुष्प प्रकरों एवं इन्द्र धनुष के समान अनेक तोरणों से अलंकृत था तथा अनेक ध्वजों की छाया से उसमें नितान्त शीतलता थी ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

सञ्जीविनी—तत इति । ततस्तदनन्तरं चामीकरजालवत्सु सौवर्णगवाक्ष-

युक्तेषु सौधेषु तस्याजस्यालोकने तत्पराणामासक्तानां पुरसुन्दरीणामित्थं वक्ष्यमाणप्रकाराणि त्यक्तान्यन्यकार्याणि केशबन्धनादीनि येषु तानि विचेष्टितानि व्यापाराः । नपुंसके भावे क्तः । बभूवुः ।

अन्वयः—ततः चामीकरजालवत्सु सौधेषु तदालोकनतत्पराणां पुरसुन्दरीणां इत्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि बभूवुः ।

वाच्य०—ततः चामीकरजालवत्सु सौधेषु तदालोकनतत्पराणां पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्यैः विचेष्टितैः इत्थं बभूवे ।

चन्द्रिका—ततः=तदनन्तरं, चामीकरजालवत्सु=सौवर्णगवाक्षयुक्तेषु, सौधेषु=हर्म्येषु, तदालोकनतत्पराणां=अजावलोकनसमागतानां, पुरसुन्दरीणां=नगराङ्गनानां, इत्थं=अनेन प्रकारेण, त्यक्तान्यकार्याणि=परित्यक्तकेशबन्धनादीनि, विचेष्टितानि=व्यापाराः, बभूवुः=अभवन् ।

समासः—चामीकरस्य जालानि सन्ति येषु, तानि, तेषु चामीकरजालवत्सु । तस्य आलोकनं तदालोकनं, तत्र तत्पराणां, तदालोकनतत्पराणाम् । पुरस्य सुन्दर्य्यः पुरसुन्दर्य्यः, तासां पुरसुन्दरीणाम् । त्यक्तानि अन्यकार्याणि येषु तानि त्यक्तान्यकार्याणि ।

कोशः—'सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका' इत्यमरः ।

भावार्थः—सौवर्णगवाक्षयुक्तेषु हर्म्येषु अजालोकनार्थं केशबन्धनादिकार्यजातं विहाय समागतानां पुरनारीणां व्यापाराः अनेन प्रकारेण बभूवुः ।

भाषार्थ—सुवर्ण निर्मित गवाक्ष वाले प्रासाद में अज को देखने के लिए आयी हुई समस्त स्त्रियों के केश-बन्धादि समस्त कार्य जात छूट जाने से उनके हाव-भाव इस प्रकार प्रकाशित होने लगे ॥ ५ ॥

तान्येवाह पञ्चभिः श्लोकैः—

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

सञ्जीविनी—आलोकेति । सहसालोकमार्गं गवाक्षपथं व्रजन्त्या कयाचित्कामिन्योद्वेष्टनवान्तमाल्यः । उद्वेष्टनो द्रुतगतिवशादुन्मुक्तबन्धनः । अत एव वान्तमाल्यो बन्धविश्लेषेणोद्गीर्णमाल्यः । करेण रुद्धो गृहीतोऽपि च केशपाशः

केशकलापः । 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः । तावदालोकमार्गप्राप्तिपर्यन्तं बद्धुं बन्धनार्थं न संभावितो न चिन्तित एव ।

अन्वयः——सहसा आलोकमार्गं व्रजन्त्या कयाचिद् उद्वेष्टनवान्तमाल्यः करेण रुद्धः अपि च केशपाशः तावत् बद्धुं न सम्भावितः एव ।

वाच्य०——आलोकमार्गं सहसा व्रजन्ती काचिद् उद्वेष्टनवान्तमाल्यः करेण रुद्धः केशपाशं वद्धः न संभावितवती ।

चन्द्रिका——सहसा = झटिति, आलोकमार्गं = अजप्रेक्षणार्थं, व्रजन्त्या = गच्छन्त्या, कयाचिद् = अङ्गनया, उद्वेष्टनवान्तमाल्यः = उन्मुक्तकेशपाशनिगीर्णमाल्यः, करेण = एकहस्तेन, रुद्धः = गृहीतः, अपि च, केशपाशः = कचकलापः, तावत् = गवाक्षमार्गपर्यन्तं, बद्धुं = संयन्तुं, न = नहि, सम्भावितः = न चिन्तित एव ।

समासः——आलोकस्य मार्गः आलोकमार्गः तम् आलोकमार्गम् । उद्वेष्टनाद् वान्तः माल्यो यस्य सः उद्वेष्टनवान्तमाल्यः, केशानां पाशः केशपाशः ।

कोशः——'अतर्किते तु सहसा', 'कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः ।

भावार्थः——अजावलोकनार्थं गच्छन्त्या कयाचिद् स्त्रिया द्रुतगतिवशाद् वेणीबन्धनतः शिथिलमाल्यः एकहस्तेन संगृहीतः केशपाशः बद्धुं विस्मृतः ।

भाषार्थ——अज को देखने के लिए शीघ्रता से जाती हुई किसी अंगना के केश-पाश के बन्धन से माला गिर गयी और वह अपने केश पाश का बाँधना भूल कर उसे एक हाथ से संभाले अज को एकटक देखने लगी ॥ ६ ॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ७ ॥

सञ्जीविनी——प्रसाधिकेति । काचित् प्रसाधिकयालंकर्त्र्या लम्बितं रञ्जनार्थं धृतं द्रवरागमेवाद्रालक्तकमेव । अग्रश्चासौ पादश्चेत्यग्रपाद इति कर्मधारयसमासः । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदाभ्याम्' इति वामनः । तमाक्षिप्याकृष्य । उत्सृष्टलीलागतिस्त्यक्तमन्दगमना सती । आगवाक्षाद् गवाक्षपर्यन्तं पदवीं पन्थानमलक्तकाङ्कां लाक्षारागचिह्नां ततान विस्तारयामास ।

अन्वयः——काचित् प्रसाधिकालम्बितं द्रवरागम् एव अग्रपादम् आक्षिप्य उत्सृष्टलीलागतिः सती आगवाक्षाद् पदवीं अलक्तकाङ्कां ततान ।

वाच्य०—कयाचिद् उत्सृष्टलीलागत्या सत्या आगवाक्षाद् पदवी अलक्तकाङ्का तेने। (कर्मवाच्य.)।

चन्द्रिका—काचित् = अंगना, प्रसाधिकालम्बितं = प्रसाधिकया रञ्जनार्थं स्थापितं, द्रवरागं = आर्द्रालक्तकं, अग्रपादं = पूर्वप्रसारितचरणं, आक्षिप्य = आकृष्य, उत्सृष्टलीलागतिः = परित्यक्तमन्दगमना सती, आगवाक्षाद् = गवाक्षपर्यन्तं, पदवीं = गमनमार्गं, अलक्तकाङ्कां = लाक्षारागचिह्नां, ततान = विस्तारयामास।

समासः—प्रसाधिकया आलम्बितं प्रसाधिकालम्बितम्, द्रवस्य रागः यस्मिन् तं द्रवरागम्, अग्रश्चासौ पादश्चेति अग्रपादः, तं अग्रपादम्, उत्सृष्टा लीला गतिर्यया सा उत्सृष्टलीलागतिः, गवाक्षमभिव्याप्येति आगवाक्षं तस्माद् आगवाक्षाद्। अलक्तकस्य अङ्कः यस्यां सा अलक्तकाङ्का तां अलक्तकाङ्काम्।

कोशः—'वातायनं गवाक्षः', 'लाक्षा राक्षा जतु क्लीबे यावोऽलक्तो द्रुमामयः, इत्यमरः।

भावार्थः—काचित् अलक्तकतूलिकया रञ्जनार्थं द्रवरागद्रुतं पूर्वं धृतं पादम् अर्धरञ्जितं कृत्वा अजावलोकनार्थं सत्वरमुत्थाय लीलागतिमुत्सृज्य गवाक्षपर्यन्तमार्गम् अलक्तकरागयुतं कृतवती।

भावार्थ—कोई स्त्री लाक्षारसके तूलिका से अलंकृत करने के लिए ज्यों ही अपना एक चरण फैलाकर महावर लगा रही थी, उसी समय अज के आगमन को सुनकर अर्द्धरंजित चरण को शीघ्रता से हटा कर अपने लीला गति को छोड़ कर गवाक्षपर्यन्त मार्ग को लाक्षा रस से युक्त करती हुई उसे देखने में संलग्न हो गई॥ ७॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ ८॥

सञ्जीविनी—विलोचनमिति। अपरा स्त्री दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन संभाव्योऽलङ्कृत्य। संभ्रमादिति भावः। तद्वञ्चितं तेनाञ्जनेन वर्जितं वामनेत्रं यस्याः सा सती तथैव शलाकामञ्जनतूलिकां वहन्ती सती वातायनसंनिकर्षं गवाक्षसमीपं ययौ। दक्षिणग्रहणं संभ्रमाद्व्युत्क्रमकरणद्योतनार्थम्। 'सव्यं हि पूर्वं मनुष्या अञ्जते' इति श्रुतेः।

अन्वय:—अपरा दक्षिणं विलोचनम् अञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चित-वामनेत्रा सती तथा एव शलाकां वहन्ती सती वातायनसन्निकर्षं ययौ।

वाच्य०—अपरया दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चित-वामनेत्रया शलाकया वहन्त्या सत्या वातायनसन्निकर्षम् अयात।

चन्द्रिका—अपरा=स्त्री, दक्षिणं, विलोक्यतेऽनेनेति विलोचनं = नेत्रं, अञ्जनेन संभाव्य = अञ्जनेन अलङ्कृत्य, तद्वञ्चितवामनेत्रा = अञ्जनशून्य-वामनयना, सती शलाकया = अञ्जनतूलिकां, वहन्ती = धारयन्ती, वातायन-सन्निकर्षं = गवाक्षसमीपं, ययौ = प्राप।

समास:—तेन वञ्चितं वामनेत्रं यस्या सा तद्वञ्चितवामनेत्रा, वाताय-नस्य सन्निकर्ष: वातायनसन्निकर्ष: तं वातायनसन्निकर्षम्। विशिष्टं च तत् लोचनमिति विलोचनम्।

कोश:—'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी', 'वातायन: गवाक्ष: स्यात्' इत्यमर:।

भावार्थ:—काचिदङ्गनाऽजावलोकनार्थं स्वदक्षिणं नयनमञ्जनेनालंकृ-त्यपि वामनेत्रमञ्जनशून्यं कृत्वा हस्तेन तूलिकां निधाय गवाक्षसमीप-मागतवती।

भावार्थ—कोई स्त्री अजको देखने के लिए अपने दाहिने नेत्र में अञ्जन लगा कर भी बायें नेत्र में विना अञ्जन किये शीघ्रता से हाथ में अञ्जन तूलिका को लिये खिड़की के समीप पहुँच गयी॥ ८॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वास:॥ ९॥

सञ्जीविनी—जालान्तरेति। अन्या स्त्री जालान्तरप्रेषितदृष्टिर्गवाक्षमध्य-प्रेरितदृष्टि: सती प्रस्थानेन गमनेन भिन्नां त्रुटितां नीवीं वसनग्रन्थिम्। 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्व:, न बबन्ध। किन्तु नाभि-प्रविष्टाभरणानां कङ्कणादीनां [illegible] यस्य तेन। [illegible] नाभेराभरण [illegible]-भूदिति भाव:। हस्तेन वासोऽवलम्ब्य गृहीत्वा तस्थौ।

अन्वय:—अन्या जालान्तरप्रेषितदृष्टि: सती प्रस्थानभिन्नां नीवीं न बबन्ध, किन्तु नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन वास: अवलम्ब्य तस्थौ।

वाच्य०--अन्यया जालान्तरप्रेषितदृष्ट्या प्रस्थानभिन्ना नीवी न बबन्धे। किन्तु नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन वासः अवलम्ब्य तस्थे।

चन्द्रिका—अन्या = अङ्गना, जालान्तरप्रेषितदृष्टिः = गवाक्षमध्यप्रेरितदृष्टिः, प्रस्थानभिन्नां = गमनात् त्रुटितां, नीवीं = वसनग्रन्थि, न बबन्ध = नाबध्नात्, (किन्तु) नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण = नाभिगतहस्तकङ्कणादिप्रभेण, हस्तेन = करेण, वासः=वस्त्रं, अवलम्ब्य=गृहीत्वा, तस्थौ=स्थितवती।

समासः—जालस्यान्तरं जालाऽन्तरं तत्र प्रेषिता दृष्टिर्यया सा जालान्तरप्रेषितदृष्टिः, प्रस्थानेन भिन्ना प्रस्थानभिन्ना, तां प्रस्थानभिन्नां, नाभौ प्रविष्टा नाभिप्रविष्टा नाभिप्रविष्टा आभरणानां प्रभा यस्य तेन नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण।

कोशः--'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इत्यमरः।

भावार्थः -अन्या गवाक्षमध्ये दृष्टिं निवेश्य अजावलोकनार्थं प्रस्थानकारणेन स्थानत्रुटितां वासोग्रन्थिं न बबन्ध, किन्तु नाभिगतकङ्कणादित्विड्युक्तेन करेण वासो गृहीत्वा तस्थौ।

भावार्थ--कोई स्त्री गवाक्ष की ओर जाती हुई शीघ्रता के कारण खुली हुई अपनी नीवी न बाँध सकी और नाभि स्थान में कङ्कणादि की प्रभा को विखेरने वाले अपने एक हाथ से उसे पकड़े खड़ी रह गयी॥ ९॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रसना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥ १०॥

सञ्जीविनी--अर्धाञ्चितेति। सत्वरमुत्थितायाः कस्याश्चिदर्धाञ्चिता मणिभिरर्धगुम्फिता दुर्निमिते संभ्रमादुत्क्षिप्ते। 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' इति धातोः कर्मणि क्तः। पदे पदे प्रतिपदम्। वीप्सायां द्विर्भावः। गलन्ती गलद्रत्ना सती रशना मेखला तदानीं गमनसमयेऽङ्गुष्ठमूलेऽर्पितं सूत्रमेव शेषो यस्याः सा। आसीत्।

अन्वयः—सत्वरम् उत्थितायाः कस्याश्चित् अर्धाञ्चिता दुर्निमिते पदे पदे गलन्ती (सती) रशना तदानीम् अङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा आसीत्।

वाच्य०--कस्याश्चित् अर्धाञ्चितया पदे पदे गलन्त्या रशनया अङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषया आस्ते (भाव०)।

चन्द्रिका—सत्वरं = ससंभ्रमं, उत्थितायाः, कस्याश्चित् = स्त्रियाः, अर्धाञ्चिता =मणिभिः, अर्धगुम्फिता, दूर्निमिते=सत्त्वरमुत्क्षिप्ते, पदे पदे = प्रतिपदं, गलन्ती = त्रुटयन्ती, रशना = मेखला, गमनसमये अङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा = अङ्गुष्ठमूलार्पितरत्नसहितसूत्रमात्रा, आसीत् = बभूव ।

समासः—अर्धम् अञ्चिता अर्धाञ्चिता, अङ्गुष्ठस्य मूले अर्पितं सूत्रमा शेषं यस्याः सा अङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ।

कोशः 'स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा' इत्यमरः ।

भावार्थः—अजावलोकनार्थं संभ्रमवशादुत्थितायाः कस्याश्चिद् अङ्गनायाः अर्धगुम्फिता रशना प्रतिपदं त्रुटयन्ती, सती मणिभिर्हीना जाता, तेन सा रशना अङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रमात्रा बभूव ।

भाषार्थ—अज को देखने के लिए शीघ्रता से उठ खड़ी हुई किसी स्त्री की अर्धगुम्फित मेखला शीघ्रता से पैर उठाने के कारण पद-पद पर मणियों के गिर जाने से अङ्गुष्ठ मूल में सूत्र मात्र शेष रह गयी ॥ १० ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥११॥

सञ्जीविनी—तासामिति । तदानीं सान्द्रकुतूहलानां तासां स्त्रीणामासवगन्धो गर्भे येषां तैः । विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमरा येषां तैः मुखैर्व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इव कमलालंकृता इव । 'सहस्रपत्रं कमलम्' इत्यमरः । आसन् ।

अन्वयः—तदानीं सान्द्रकुतूहलानां तासाम् आसवगन्धगर्भैः विलोलनेत्रभ्रमरैः मुखैः व्याप्तान्तराः गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणाः इव आसन् ।

वाच्य०—सान्द्रकुतूहलानां तासामासवगन्धगर्भैः विलोलनेत्रभ्रमरैः मुखैः (करणैः) व्याप्तान्तरैः गवाक्षैः सहस्रपत्राभरणैः इव बभूवे (भाववाच्य०) ।

चन्द्रिका—तदानीम् = अजस्यावलोकनसमये, सान्द्रकुतूहलाना = मधुरकुतूहलानाम्, तासां = स्त्रीणां, आसवगन्धगर्भैः = मद्यगन्धपूरितैः, विलोलनेत्रभ्रमरैः = चञ्चलनेत्रद्विरेफैः, मुखैः = आननैः, व्याप्तान्तराः = व्याप्तावकाशाः, गवाक्षाः = वातायनानि, सहस्रपत्राभरणाः = कमलालंकृताः, इव आसन् = बभूवुः ।

समासः--सान्द्रं कुतूहलं यासां ताः सान्द्रकुतूहलाः, तासां सान्द्रकुतूहलानाम्। आसवस्य गन्धः आसवगन्धः आसवगन्धः गर्भे येषां ते आसवगन्धगर्भाः तैः आसवगन्धगर्भैः, विलोलानि नेत्राणि भ्रमराः येषां तानि विलोलनेत्रभ्रमराणि, तैः विलोलनेत्रभ्रमरैः, आप्ता अन्तरा येषां ते आप्तान्तराः, सहस्रपत्राणामाभरणाः सहस्रपत्राभरणाः।

कोशः--'वनं निरन्तरं सान्द्रं' 'मैरयमासवः सीधु' 'सहस्रपत्रं कमलम्' इत्यमरः।

भावार्थः--अजावलोकनार्थं कुतूहलगतानां नारीणाम् आसवगन्धपूरितैः चञ्चलनेत्रभ्रमरयुतैः मुखैः छन्नावकाशा गवाक्षाः कमलालंकृता इव बभूवुः।

भावार्थ--अजको देखने के लिए कुतूहल को प्राप्त हुई स्त्रियों के मद्य गन्धयुक्त चञ्चल नेत्रयुक्त मुखों से परिपूर्ण गवाक्ष कमलालंकृत की तरह जान पड़ते थे॥११॥

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा॥१२॥

सञ्जीविनी—तेति। ता नार्यो रघोरपत्यं राघवमजम्। "तस्याऽपत्यम्" इत्यण्प्रत्ययः। दृष्टिभिरापिबन्त्योऽपि तृष्णया पश्यन्त्यो विषयान्तराण्यन्यान्विषयान्न जग्मुः न विविदुरित्यर्थः। तथा हि। आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिश्चक्षुर्व्यतिरिक्तश्रोत्रादीन्द्रियव्यापारः सर्वात्मना स्वरूपकार्त्स्न्येन चक्षुःप्रविष्टेव। श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येण ग्रहणाशक्तेश्चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकात्स्वयमप्येनमुपलभन्ते किमु। अन्यथा स्वस्वविषयाधिगमः किं न स्यादिति भावः।

अन्वयः--ताः नार्यः राघवं दृष्टिभिः आपिबन्त्यः विषयान्तराणि न जग्मुः, तथा हि आसां शेषेन्द्रियवृत्तिः सर्वात्मना चक्षुः प्रविष्टा इव।

वाच्य०--ताभिः नारीभिः राघवं दृष्टिभिः आपिबन्तीभिः विषयान्तरैः न जग्मितवत्यः (कर्मवाच्य)।

चन्द्रिका--ताः = पूर्वोक्ताः, नार्यः = स्त्रियः, रघोरपत्यं राघवं = अजं, दृष्टिभिः = नेत्रैः, आपिबन्त्यः = सतृष्णं विलोकयन्त्यः, विषयान्तराणि = अन्यविषयान्, न जग्मुः = न विविदुः। तथा हि, आसां = नारीणां, शेषेन्द्रिय-

वृत्तिः = चक्षुरतिरिक्तव्यापारः, सर्वात्मना = स्वरूपकार्त्स्न्येन, चक्षुःप्रविष्टा इव = नेत्रगता इव ।

समासः— अन्यानि विषयानीति विषयान्तराणि, शेषाणि च तानीन्द्रियाणि शेषेन्द्रियाणि तासां वृत्तिः शेषेन्द्रियवृत्तिः, चक्षुषि प्रविष्टा चक्षुःप्रविष्टा ।

कोशः—'लोचन नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी' 'दृग्दृष्टी' 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः ।

भावार्थः—विदर्भनार्यः सतृष्णमजं पश्यन्त्यः अन्यविषयान् न विविदुः । तासां श्रोत्रादि-इन्द्रियव्यापारः स्वविषयाग्रहणसामर्थ्येन चक्षुषि प्रविश्य स्वयं दर्शनजमानन्दं लेभे ।

भाषार्थ—अज को अपलक नेत्रों से देखती हुई विदर्भ नगर की स्त्रियों के श्रोत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार अपने-अपने विषयों के ग्रहण में अशक्त हो गये । और वे सर्वात्मना चक्षुरिन्द्रिय में ही प्रविष्ट होकर अजके दर्शन का आनन्द उठाने लगे ।। १२ ।।

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या ।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ।।१३।।

सञ्जीविनी —स्थान इति । भोज्येन्दुमती परोक्षैरदृष्टैर्भूपतिभिर्वृता ममैवेयमिति प्रार्थितापि स्वयंवरमेव साधु हितममंस्त मेने । न तु परोक्षमेव कंचित्प्रार्थकं वव्रे । स्थाने युक्तमेतत् । 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः । कुतः । अन्यथा स्वयंवराभावेऽसाविन्दुमती । पद्ममस्या अस्तीति पद्मा लक्ष्मीः । 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । नारायणमिव । आत्मतुल्यं स्वानुरूपं कान्तं पतिं कथं लभेत । न लभेतैव । सदसद्विवेकासौकर्यादिति भावः ।

अन्वयः—भोज्या परोक्षैः भूपतिभिः वृता स्वयंवरमेव साधु अमंस्त इति स्थाने अन्यथा असौ पद्मा नारायणमिव आत्मतुल्यं कान्तं कथं लभेत ?

वाच्य०–भोज्यया परोक्षैः भूपतिभिः वृतया स्वयंवर एव साधु अमन्यत । अन्यथा पद्मया नारायण इव आत्मतुल्यः कान्तः तया कथं लभ्येत । (कर्मवाच्य०) ।

चन्द्रिका—भोज्या = इन्दुमती, परोक्षैः = अदृष्टैः, भूपतिभिः = राजभिः, वृता = ममेयमिति प्रार्थिता सती, स्वयंवरमेव साधु = हितं, अमंस्त = मेने ।

इति स्थाने = युक्तमेव, अन्यथा = स्वयंवराभावे, पद्मा= लक्ष्मीः, नारायणमिव, आत्मना तुल्यं आत्मतुल्यं = स्वानुरूपं, कान्तं = पतिं, कथं लभेत=प्राप्नुयात् ।

समासः--भुवः पतयः भूपतयः तैः, भूपतिभिः। आत्मना तुल्यः आत्मतुल्यस्तम् ।

कोशः---'दुःक्रोडे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः ।

भावार्थः--अदृष्टैः राजभिः ममेयमिति प्रार्थिता इन्दुमती स्वयंवरमेव साधु मेने । अन्यथा लक्ष्मीः नारायणमिव स्वात्मतुल्यं पतिं कथं लभताम् ।

भावार्थ—परोक्षरूप में अनेक राजाओं से प्रार्थित इन्दुमती ने स्वयम्वर को ही अच्छा समझा, यह उचित ही है। अन्यथा यदि स्वयंवर न होता तो वह लक्ष्मी नारायण के समान अपने सदृश पति को किस प्रकार प्राप्त करती ।। १३ ।।

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ।।१४।।

सञ्जीविनी--परस्परेणेति । स्पृहणीयशोभं सर्वाशास्यसौन्दर्यमिदं द्वन्द्वं मिथुनम् । 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' इत्यनेन निपातः । परस्परेण नायोजयिष्यच्चेन्न योजयेद्यदि । तर्हि प्रजानां पत्युर्विधातुरस्मिन्द्वये द्वन्द्वे रूपविधानयत्नः सौन्दर्यनिर्माणप्रयासो वितथो विफलोऽभविष्यत् । एतादृशानुरूपस्त्रीपुंसान्तराभावादिति भावः । 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङ् । 'कुतश्चित्कारणवैगुण्यात्क्रियाया अनभिनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः' इति वृत्तिकारः ।

अन्वयः—स्पृहणीयशोभं इदं द्वन्द्वं परस्परेण न अयोजयिष्यत् चेत् प्रजानां पत्युः अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः वितथः अभविष्यत् ।

वाच्य०—स्पृहणीयशोभम् इदं द्वन्द्वं परस्परेण नायोजयिष्यत चेत्तदा प्रजानां पत्युः अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नेन वितथेन अभविष्यत (भाववाच्य.)।

चन्द्रिका—स्पृहणीयशोभं=सर्वशास्त्रसौन्दर्यं, इदं द्वन्द्वं=मिथुनं, परस्परेण = अन्योन्येन, न अयोजयिष्यत्=न योजयेत्, चेद् =यदि, तदा प्रजानां =जनानां पत्युः = विधातुः, अस्मिन् द्वये = द्वन्द्वे, रूपविधानयत्नः = सौन्दर्यनिर्माणप्रयासः, वितथः = विफलः, अभविष्यत् = भवेत् ।

समासः--स्पृहणीया शोभा यस्य तत् स्पृहणीयशोभं, रूपस्य विधानं रूपविधानं तत्र यत्नः रूपविधानयत्नः ।

कोश:—'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वं, युग्मं तु युगलं युगम्,' 'वितथं त्वनृतं वच:' इत्यमर: ।

भावार्थ:—सर्वै: संस्तूयमानमिदमजेन्दुमतीरूपं द्वन्द्वं परस्परेण संगतं न कृतं भवेत्तदा तत्र द्वन्द्वे ब्रह्मण: सौन्दर्यनिर्माणप्रयासो व्यर्थ एव स्यात् ।

भाषार्थ—सभी से प्रशंसित अज इन्दुमती रूप जोड़े को यदि विश्व-कर्त्ता ब्रह्मा परस्पर न मिलाते तो उनका इन दोनों के रूप-निर्माण का प्रयास व्यर्थ हो जाता ॥१४॥

रतिस्मरौ नूनमिवावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥१५॥

सञ्जीविनी—रतिस्मराविति । रतिस्मरौ यौ नित्यसहचरावित्यभिप्राय: । नूनं तावेवेयं चायं चेमौ दम्पती अभूताम् । एतद्रूपेणोत्पन्नौ । कुत: । तथा हि—इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु राजसहस्रमध्ये । सत्यपि व्यत्यासकरण इति भाव: । आत्मप्रतिरूपं स्वतुल्यमेव । 'तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपका:' इति दण्डी । गता प्राप्ता । तदपि कथं जातमत आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसंगतिज्ञं भवति । तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मन:-प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम् । जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र प्रवर्त्तकमिति भाव: ।

अन्वय:—रतिस्मरौ (यौ पूर्वं) तौ इमौ (दम्पती) अभूतां, तथा हि इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु आत्मप्रतिरूपमेव गता हि मन: जन्मान्तरसंगतिज्ञम् (भवति) ।

वाच्य०—पूर्वं रतिस्मराभ्यामेव अत्र आभ्यां दम्पतीभ्यां अभूवाते (भाव वाच्य.) तथा हि बालया अनया राज्ञां सहस्रेषु आत्मरूपमेव गतम् । (कर्म-वाच्य.) हि मनसा जन्मान्तरसंगतिज्ञेन भूयते (भाववाच्य.) ।

चन्द्रिका—रतिस्मरौ = रतिकामदेवौ, तौ = इमौ (दम्पती), अभूतां, तथा हि, इयं बाला = इन्दुमती, राज्ञां सहस्रेषु = राजसहस्रमध्ये, आत्मप्रतिरूप-मेव = स्वानुरूपमेव, गता = प्राप्ता, हि = यस्मात्, मन: = संकल्पविकल्पा-त्मकं, जन्मान्तरसंगतिज्ञं = जन्मान्तरसंगतिविदं भवति ।

समास:—रतिश्च स्मरश्चेति रतिस्मरौ । अन्यत् जन्म जन्मान्तरं, जन्मान्तरे संगति: जन्मान्तरसंगतिस्तां जानातीति ।

कोश:—'बाला स्याद्वधू:' 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मन:' इत्यमर: ।

भावार्थ:—पूर्वजन्मनि रतिस्मरौ यौ अभूतां तावेवास्मिन् जन्मनि अजेन्दु-

मतीरूपौ दम्पती अभूतां, तथा हि सहस्राज्ञां मध्येऽपीयं वाला स्वानुरूपं वरं प्राप्तवती। यतः मनः संस्कारवासनया जन्मान्तरसंगतिविदं भवति।

भावार्थ--निश्चय ही ये दोनों पूर्व जन्म में कामदेव तथा रति थे, जो इस समय अज तथा इन्दुमतीरूप में दम्पती हुए हैं। क्योंकि, इस वाला ने हजारों राजाओं के बीच अपने अनुरूप वर को प्राप्त किया है। इसका कारण यह है कि मन दूसरे जन्म की संगति को जानने वाला होता है ॥१५॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन् कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥१६॥

सञ्जीविनी--इतीति। इति 'स्थाने वृता' इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्य उद्गता उत्पन्नाः श्रोत्रयोः सुखा मधुराः। सुखशब्दो विशेष्यनिघ्नः। 'पापं पुण्यं सुखादि च' इत्यमरः। कथा गिरः शृण्वन्कुमारोऽजो मंगलसंविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासितं शोभितं संवन्धिनः कन्यादायिनः सद्म गृहं समाससाद प्राप।

अन्वयः—इति पौरवधूमुखेभ्यः उद्गताः श्रोत्रसुखाः कथाः शृण्वन् कुमारः मङ्गलसंविधाभिः उद्भासितं सम्बन्धिनः सद्म समाससाद।

वाच्य०—इति पौरवधूमुखेभ्यः उद्गता श्रोत्रसुखाः कथाः शृण्वता कुमारेण मङ्गलसंविधाभिः उद्भासितं सम्बन्धिभिः सद्म समासेदे (कर्मवाच्य०)।

चन्द्रिका--इति = एवं प्रकारेण, पौरवधूमुखेभ्यः = नगरवासिस्त्रीमुखेभ्यः, उद्गताः = उत्पन्नाः, श्रोत्रसुखाः = श्रोत्रयोः सुखाः श्रोत्रसुखाः, मनोहराः, कथाः = गिरः शृण्वन् = आकर्णयन्, कुमारः = अजः, मंगलसंविधाभिः = मंगलरचनाभिः, उद्भासितं = सुशोभितं, संबन्धिनः = कन्यादायिनः, सद्म = गृहं, समाससाद = प्राप।

समासः—पुरे भवाः पौराः पौराश्च ता वध्वः पौरवध्वस्तासां मुखेभ्यः पौरवधूमुखेभ्यः, श्रोत्रेण सुखाः श्रोत्रसुखाः, मंगलस्य संविधा मंगलसंविधास्ताभिर्मंगलसंविधाभिः।

कोशः—'कल्याणं मंगलं शुभम्' 'वेश्म सद्म निकेतनम' इत्यमरः।

भावार्थः—एवं प्रकारेण नगरनिवासि-स्त्रीमुखेभ्यः उत्पन्नः मनोहराश्च कथाः आकर्णयन् अजः कलशतोरणादिमंगलोपचारसुशोभितं विदर्भराजगृहमगच्छत।

भाषार्थ—इस प्रकार नगर की स्त्रियों के मुख से निकले हुए अत्यन्त मनोहर वाणी को सुनते हुए कुमार अज विदर्भ राज के घर पहुँचे ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥

सञ्जीविनी—तत इति । ततोऽनन्तरं करेणुकाया हस्तिन्याः सकाशादाशु शीघ्रमवतीर्य । कामरूपेश्वरे दत्तो हस्तो येन सोऽजः । अथोऽनन्तरं वैदर्भेण निर्दिष्टं प्रदर्शितमन्तश्चतुष्कं चत्वरम् । नारीणां मनांसीव विवेश ।

अन्वयः—ततः करेणुकायाः आशु अवतीर्य कामरूपेश्वरदत्तहस्तः सः अथ वैदर्भनिर्दिष्टम् अन्तःचतुष्कं नारीणां मनांसि इव विवेश ।

वाच्य०—ततः करेणुकाया आशु अवतीर्य कामरूपेश्वरदत्तहस्तेन तेन वैदर्भनिर्दिष्टेन अन्तःचतुष्कं नारीमनांसीव विविशे ।

चन्द्रिका—ततः = गृहप्रवेशानन्तरं, करेणुकायाः = हस्तिन्याः, आशु = शीघ्रं, अवतीर्य = पृथिव्यामागत्य, कामरूपेश्वरदत्तहस्तः=कामेश्वरार्पितकरः, सः=अजः,वैदर्भनिर्दिष्टं = वैदर्भप्रदर्शितं, अन्तःचतुष्कं = चत्वरं, नारीमनांसीव = स्त्रीणां चित्तमिव, विवेश = उपतस्थौ ।

समासः—कामरूपेश्वरे दत्तः हस्तो येन स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः, वैदर्भेण निर्दिष्टं वैदर्भनिर्दिष्टं, नारीणां मनांसि नारीमनांसि ।

कोशः—'करिणी धेनुका वशा' इत्यमरः ।

भावार्थः—गृहप्रवेशानन्तरं स अजः हस्तिन्याः सकाशाद् शीघ्रमवतीर्य कामेश्वरसमर्पितकरः सन् वैदर्भप्रदर्शितं चतुष्कं नारीमनांसीवाऽविशत् ।

भाषार्थ—विदर्भ राज के घर पहुँच कर अज शीघ्रता से हाथी से उतर कर कामरूपेश्वर के ऊपर हाथ रखते हुए विदर्भ राज-द्वारा प्रदर्शित अन्तःपुर के चबूतरे पर बैठ गये ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥

सञ्जीविनी—महार्हेति । महार्हसिंहासने संस्थितोऽसावजः । भोजेनोपनीतम् । रत्नैः सहितं सरत्नम् । मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनद्रव्यं दुकूलयोः क्षौमयोर्युग्मं च वनिताकटाक्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनैः सार्धं जग्राह गृहीतवान् ।

अन्वयः—महार्हसिंहासनसंस्थितः असौ भोजोपनीतं सरत्नं मधुपर्कमिश्रम् अर्घ्यं दुकूलयुग्मं च वनिताकटाक्षैः सार्धं जग्राह।

वाच्य०—महार्हसिंहासनसंस्थितेनामुना भोजोपनीतं सरत्नं मधुपर्कमिश्रं अर्घ्यं दुकूलयुग्मं च वनिताकटाक्षैः सार्धं जगृहे।

चन्द्रिका—महार्हसिंहासनसंस्थितः=महार्हसिंहासनोपविष्टः, असौ=अजः, भोजोपनीतं = भोजराजनीतं, सरत्नं = रत्नसहितं, मधुपर्कमिश्रं=मधुपर्कयुतं, अर्घ्यं = पूजासाधनद्रव्यं, दुकूलयुग्मं = क्षौमयुग्मं च, वनिताकटाक्षैः = स्त्रीणामपाङ्गैः, सार्धं = साकं, जग्राह = गृहीतवान्।

समासः—महार्हं च तत् सिंहासनं महार्हसिंहासनं तत्र स्थितः महार्हसिंहासनस्थितः, भोजेन उपनीतं भोजोपनीतं, रत्नेन सहितं सरत्नं, मधुपर्केण मिश्रं मधुपर्कमिश्रं, दुकूलयोर्युग्मं दुकूलयुग्मं, वनितानां कटाक्षाः, वनिताकटाक्षास्तैर्वनिताकटाक्षैः।

कोशः—"षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे" 'कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने' इत्यमरः।

भावार्थः—महार्हसिंहासनोपविष्टः अजः भोजराजप्रदत्तं रत्नयुतं, मधुपर्कसहितम् अर्घ्यं, क्षौमयुग्मं च स्त्रीणां कटाक्षैः साकं जग्राह।

भाषार्थ—बहुमूल्य सिंहासन के ऊपर बैठे हुए अजने भोजराज के द्वारा दिये गये सरत्न एवं मधुपर्क मिश्रित अर्घ्य तथा उत्तरीय सुन्दर दो वस्त्रों को दुपट्टा (पगड़ी), स्त्रियों के कटाक्षों के साथ ग्रहण किया॥ १८॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः॥१९॥

सञ्जीविनी—दुकूलेति। दुकूलवासाः सोऽजः विनीतैर्नम्रैरवरोधरक्षैरन्तःपुराधिकृतैर्वधूसमीपं निन्ये। तत्र दृष्टान्तः-स्फुटफेनराजिरुदन्वान्समुद्रो नवैर्नूतनैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणैर्वेलायाः सकाशं समीपमिव। पूर्णदृष्टान्तोऽयम्।

अन्वयः—दुकूलवासाः सः विनीतैः अवरोधरक्षैः वधूसमीपं स्फुटफेनराजिः उदन्वान् नवैः चन्द्रपादैः वेलासकाशम् इव निन्ये।

वाच्य०-दुकूलवाससा तेन विनीता अवरोधरक्षाः वधूसमीपं स्फुटफेनराजिना उदन्वता इव नवाश्चन्द्रपादाः वेलासमीपमिव निन्यिरे। (कर्तृवाच्य०)।

चन्द्रिका—दुकूलवासाः = क्षौमवस्त्रधारी, सः=अजः, विनीतैः=नम्रैः, अवरोधरक्षैः = अन्तःपुराधिकृतैः, वधूसमीपं - भार्यासकाशं, स्फुटफेनराजिः -

स्पष्टफेनपङ्क्तिः, उदन्वान् = समुद्र इव, नवैः = नूतनैः, चन्द्रपादैः = चन्द्रकिरणैः, वेलासमीपमिव, निन्ये = आनीतः ।

समासः—दुकूलं वासो यस्य स दुकूलवासाः, अवरोधं रक्षन्तीति अवरोधरक्षास्तैः अवरोधरक्षैः, वध्वा समीपं वधूसमीपम्, स्फुटा फेनानां राजिर्यस्मिन् सः स्फुटफेनराजिः, चन्द्रस्य पादैः चन्द्रपादैः, वेलायाः समीपं वेलासमीपम् ।

कोशः—'क्षौमं दुकूलं स्याद्वेतु' 'उदन्वान्नुदधिः सिन्धुः' इत्यमरः ।

भावार्थः—क्षौमवस्त्रधारिणमजं विनयशीलाऽन्तःपुररक्षकाः वधूसमीपं फेनपङ्क्तियुतं समुद्रं नवीनाश्चन्द्रपादाः वेलासमीपमिव आनिन्युः ।

भाषार्थ—क्षौमवस्त्र धारण किये हुए अज को विनयशील अन्तःपुररक्षक वधू के समीप इस प्रकार लाये जिस प्रकार नवीन चन्द्रकिरणें फेनयुक्त समुद्र को वृद्धि की ओर ले आती हैं ।१९॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥२०॥

सञ्जीविनी—तत्रेति । तत्र सद्मन्यर्चितः पूजितोऽग्निकल्पोऽग्नितुल्यो भोजपतेर्भोजदेशाधीश्वरस्य पुरोधाः पुरोहितः । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । आज्यादिभिर्द्रव्यैरग्निं हुत्वा तमेव चाग्निं विवाहसाक्ष्य आधाय । साक्षिणं च कृत्वेत्यर्थः । वधूवरौ संगमयांचकार योजयामास ।

अन्वयः—तत्र अर्चितः अग्निकल्पः भोजपतेः पुरोधाः आज्यादिभिः अग्निं हुत्वा तमेव च विवाहसाक्ष्ये आधाय वधूवरौ संगमयांचकार ।

वाच्य०—तत्र अर्चितेन अग्निकल्पेन भोजपतेः पुरोधसा आज्यादिभिः अग्निं हुत्वा तमेव च विवाहसाक्ष्ये आधाय वधूवराभ्यां संगमयांचक्राते ।

चन्द्रिका—तत्र = सद्मनि, अर्चितः = पूजितः, अग्निकल्पः = अग्निसदृशः, भोजपतेः = भोजाधीश्वरस्य, पुरोधाः = पुरोहितः, आज्यादिभिः = घृतादिभिः, अग्निं = वह्निं हुत्वा, तमेव च = अग्निमेव च, विवाहसाक्ष्ये = विवाहसाक्षिणम्, आधाय = कृत्वा, वधूवरौ, संगमयांचकार = योजयामास ।

समासः—अग्निना कल्पः अग्निकल्पः, विवाहस्य साक्ष्यं विवाहसाक्ष्यं तस्मिन् विवाहसाक्ष्ये, वधूश्च वरश्चेति वधूवरौ ।

कोशः—'अग्निर्वैश्वानरो वन्हिः' 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः ।

भावार्थः—गृहे सम्यक् अर्चितः अग्निसदृशः विदर्भराजपतेः पुरोहितः

आज्यादि–हवनसामग्रीभिः अग्नि हुत्वा, तमेव विवाह-साक्षिकं च कृत्वा वधूवरौ एकत्र योजयामास।

भाषार्थ--घर में सर्व प्रथम भोजराज के पुरोहित की पूजा की गयी। तदनन्तर पूजित होकर अग्निसदृश भोजपति के पुरोहित ने अग्नि में घृतादि द्रव्यों से हवन किया और उसी को विवाह का साक्षी बनाकर वधू एवं वर को एकत्र स्थित किया॥ २ ॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥२१॥

सञ्जीविनी—हस्तेनेति। स राजसूनुर्हस्तेन स्वकीयेन वध्वा हस्तं परिगृह्य। अनन्तरायाः संनिहिताया अशोकलतायाः प्रवालं पल्लवं प्रतिपल्लवेन स्वकीयेन प्राप्य चूत आम्र इव। सुतर चकासे।

अन्वयः---सः राजसूनुः हस्तेन वध्वाः हस्तं परिगृहय अनन्तराशोकलता-प्रवालं प्रतिपल्लवेन प्राप्य चतः इव मुतरां चकासे।

वाच्य---राजसूनुना स्वहस्तेन वध्वा हस्तं गृहीत्वा अनन्तराशोकलता-प्रवालं प्रतिपल्लवेन प्राप्य चूतेन इव चकासे (भाववाच्य०)।

चन्द्रिका—स राजसूनु = अजः, हस्तेन = स्वपाणिना, वध्वा = इन्दुमत्याः, हस्तं = करं, परिगृहय = गृहीत्वा, अनन्तराशोकलताप्रवालं = समीपस्थाशोक-लतापल्लवं, प्रतिपल्लवेन = स्वहस्तेन, प्राप्य, चूत इव = आम्र इव, सुतरां = अत्यन्तं, चकासे = दिदीपे।

समासः—अनन्तरा या शोकलता अनन्तराशोकलता, तस्याः प्रवालं, अनन्त-राशोकलताप्रवालम्, पल्लवं प्रतीति प्रतिपल्लवं तेन प्रतिपल्लवेन।

कोशः—'वंजुलोऽशोके समौ' 'आम्रश्च् तो रसालोऽसौ सहकारोऽथ सौरभः' इत्यमरः।

भावार्थः--अजः स्वहस्तेन वध्वा करं प्रगृहय समीपस्थाशोकलतापल्लवं स्व-पल्लवेन प्रगृहय चूत इव शुशुभे।

भाषार्थ--अज अपने हाथ से इन्दुमती के हाथ को पकड़ कर इस प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार समीपस्थ अशोकलता के पल्लव को अपने पल्लव से पकड़कर आम्र वृक्ष सुशोभित होता है॥२१॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२२॥

सञ्जीविनी—आसीदिति । वरः कण्टकितः पुलकितः प्रकोष्ठो यस्य स आसीत् । 'सूच्यग्रे क्षुद्र शत्रौ च रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यमरः । कुमारी स्विन्नांगुलिः संववृते बभूव । अत्रोत्प्रेक्षते—तस्मिन्द्वये मिथुने तत्क्षणमात्मवृत्तिः सात्त्विकोदयरूपा वृत्तिर्मनोभवेन कामेन समं विभक्तेव पृथक्कृतेव । प्राक्सिद्धस्याप्यनुरागसाम्यस्य संप्रति तत्कार्यदर्शनात्पाणिस्पर्शकृतत्वमुत्प्रेक्ष्यते । अत्र वात्स्यायनः—'कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलिः स्विन्नमुखी च भवति । पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति । एभिरनयोर्भावं परीक्षेत' इति । स्त्रीपुरुषयोः स्वेदरोमाञ्चाभिधानं सात्त्विकमात्रोपलक्षणम् । न तु प्रतिनियमो विवक्षितः । एभिरिति बहुवचनसामर्थ्यात् । एव सति कुमारसंभवे—'रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्' इति व्युत्क्रमवचनं न दोषायेति । 'वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य' इत्यपरार्धस्य पाठान्तरे व्याख्यानान्तरम्—पाणिसमागमेन पाण्योः संस्पर्शेन कर्त्रा तयोर्वधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्तिः स्थितिः समं विभक्तेव । समीकृतेवेत्यर्थः ।

अन्वयः—वरः कण्टकितप्रकोष्ठः आसीत्, कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः, संववृते, तस्मिन् द्वये तत्क्षणम् आत्मवृत्तिः मनोभवेन समं विभक्तेव ।

वाच्य०—वरेण कण्टकितप्रकोष्ठेन बभूवे । कुमार्या स्विन्नाङ्गुल्या च संववृते (भाववा०) तस्मिन् द्वये तत्क्षण आत्मवृत्त्या मनोभवेन समं विभक्तवान् इव आस्ते ।

चन्द्रिका—वरः = अजः, कण्टकितप्रकोष्ठः = पुलकितप्रकोष्ठ आसीत् । कुमारी = इन्दुमती, स्विन्नाङ्गुलिः = सस्वेदाङ्गुलिः, संववृते । तस्मिन् द्वये = मिथुने, तत्क्षणं = विवाहकाले, आत्मवृत्तिः = स्वव्यापारः, मनोभवेन = कामेन, समं = तुल्यं, विभक्तेव – पृथक् कृतेव ।

समासः—कण्टकितः प्रकोष्ठो यस्य सः कण्टकितप्रकोष्ठः । स्विन्ना अङ्गुलयो यस्या सा स्विन्नाङ्गुलिः । आत्मनः वृत्तिः आत्मवृत्तिः ।

कोशः— 'सूच्यग्रे क्षुद्रशत्रौ च रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यमरः ।

भावार्थः—विवाहकाले अजस्य मणिबन्धे रोमोद्गमोऽभूत्, इन्दुमत्याश्च अङ्गुलीषु स्वेदो जातः । एवं मनोभवेनोभयोः समानरूपेण स्वव्यापारः प्रदर्शितः

भावार्थ-विवाहकाल में अजके मणिबन्ध स्थान में रोमोद्गम हुआ तथा इन्दुमती की अंगुलियाँ स्वेद युक्त हो गईं। इस प्रकार कामदेवने दोनों में समान रूप से अपना व्यापार प्रदर्शित किया ॥ २२ ॥

तयोरपांगप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥२३॥

सञ्जीविनी--तयोरिति । अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तेषु प्रतिसारितानि प्रवर्तितानि क्रियर्योर्निरीक्षणलक्षणयोः समापत्त्या यदृच्छासंगत्या निवर्तितानि प्रत्याकृष्टान्यन्योन्यस्मिल्लोलानि सतृष्णानि । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । तयोर्दम्पत्योर्विलोचनानि दृष्टयो मनोज्ञां रम्यां ह्रिया निमित्तेन यन्त्रणां संकोचमानशिरे प्रापुः ।

अन्वयः—अपाङ्गप्रतिसारितानि, क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि, अन्योन्यलोलानि तयोः विलोचनानि मनोज्ञां ह्रीयन्त्रणां आनशिरे ।

वाच्य०—अपाङ्गप्रतिसारितैः क्रियासमापत्तिनिवर्त्तितैः अन्योन्यलोलैः तयोः विलोचनैः मनोज्ञा ह्रीयन्त्रणा आनशिरे (कर्मवा०) ।

चन्द्रिका--अपाङ्गप्रतिसारितानि = कटाक्षप्रवर्त्तितानि, क्रियासमापत्तिनिवर्त्तितानि = निरीक्षणानन्तरं सद्यः यदृच्छया प्रत्याकृष्टानि, अन्योन्यलोलानि = परस्परसतृष्णानि, तयोः = दम्पत्योः, विलोचनानि = नयनानि, मनोज्ञां = रम्यां, ह्रीयन्त्रणां = लज्जावेदनां, आनशिरे = प्रापुः ।

समासः—अपाङ्गेषु प्रतिसारितानि अपाङ्गप्रतिसारितानि, क्रियायाः समापत्तिः क्रियासमापत्तिः क्रियासमापत्त्या निवर्तितानि क्रियासमापत्तिनिवर्त्तितानि, अन्योन्येषु लोलानि अन्योन्यलोलानि, ह्रिया यन्त्रणां ह्रीयन्त्रणाम्

कोशः--'लोलश्चलसतृष्णयोः' 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा, लज्जासापत्रपान्यतः' इत्यमरः ।

भावार्थः--कटाक्षपर्यन्तव्याप्तानि, निरीक्षणानन्तराकृष्टानि परस्परसतृष्णानि दम्पत्योर्विलोचनानि, परस्परनिरीक्षणे लज्जानुभवं चक्रुः ।

भाषार्थ--अपाङ्ग पर्यन्त फैले हुए, परस्पर देखने के बाद एक दूसरे के लिये सतृष्ण, उन दम्पती के विलोल नेत्रोंने लज्जाका अनुभव किया ॥२३॥

प्रदक्षिण-प्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥२४॥

सञ्जीविनी—प्रदक्षिणेति । तन्मिथुनमुदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोर्वह्नेः प्रदक्षिणप्रक्रमणात्। प्रदक्षिणीकरणात् मेरोरुपान्तेषु समीपेषु वर्तमानमावर्तमानम् मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वदित्यर्थः । अन्योन्यसंसक्तं परस्परसंगतम् । मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम् । अहश्च त्रियामा चाहस्त्रियाम रात्रिंदिवमिव । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । चकासे दिदीपे ।

अन्वयः--तन्मिथुनम् उदर्चिषः कृशानोः प्रदक्षिणप्रक्रमणात्, मेरोः उपान्तेषु वर्त्तमानम्, अन्योन्यसंसक्तम् अहस्त्रियामम् इव चकासे ।

वाच्य०--तन्मिथुनेन कृशानोः प्रदक्षिणप्रक्रमणात् मेरोः उपान्तेषु वर्तमानेन अन्योन्यसंसक्तेन, अहस्त्रियामेन इव चकासे ।

चन्द्रिका--तन्मिथुनं=अजेन्द्रुमतीरूपं, उदर्चिषः=उद्गतज्वालस्य, कृशानोः =अग्नेः, प्रदक्षिप्रक्रमणात् = प्रदक्षिणीकरणात्, मरोः, उपान्तेषु=समीपेषु, वर्तमानं=स्थित, अन्योन्यसंसक्तं=परस्परसंगतम्, अहस्त्रियामं=रात्रिन्दिवम् इव, चकासे=दिदीपे ।

समासः—उद्गतमर्चिर्यस्मिन् तस्य, अन्योन्यस्मिन् संसक्तम् अन्योन्यसंसक्तम्, अहश्च त्रियामा च तयोः समाहारः अहस्त्रियामम् ।

कोशः--'घस्रो दिनाहनी' 'रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा' इत्यमरः ।

भावार्थः--तन्मिथुनं समिद्धतमाग्नेः प्रदक्षिणीकुर्वत् मेरोः प्रदक्षिणीकुर्वत् अन्योन्यसंसक्तं रात्रिन्दिवमिव शुशुभे ।

भाषार्थ--वेदी की प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए वे दोनों मानों मेरु की प्रदक्षिणा कर रहे परस्पर एकत्रित रात्रि—दिन के समान सुशोभित हुए ॥२४॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥ २५॥

सञ्जीविनी--नितम्बेति । नितम्बेन गुर्व्यलध्वी । 'दुर्धरालघुनोर्गुर्वी' इति शाश्वतः । विधातृप्रतिमेन ब्रह्मतुल्येन तेन गुरुणा याजकेन प्रयुक्ता 'जुहुधीति' नियुक्ता मत्तचकोरस्येव नेत्रे यस्याः सा वधूः । अग्नौ लाजविसर्गं चकार ।

अन्वयः--नितम्बगुर्वी, विधातृप्रतिमेन तेन गुरुणा प्रयुक्ता मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती सा वधूः अग्नौ लाजविसर्गं चकार ।

वाच्य०—नितम्बगुर्व्या विधातृप्रतिमेन तेन गुरुणा प्रयुक्तया मत्तचकोर-

नेत्रया तया वध्वा अग्नौ लाजविसर्गः चक्रे।

चन्द्रिका--नितम्बेन गुर्वी नितम्बगुर्वी = नितम्बलघ्वी, विधातृप्रतिमेन = ब्रह्मसदृशेन, तेन गुरुणा = याजकेन, प्रयुक्ता = नियुक्ता; मत्तचकोरनेत्रा = मत्त-चकोरनयना, लज्जावती = प्रशस्तलाजयुक्ता, सा वधूः = इन्दुमती, अग्नौ = वह्नौ, लाजविसर्गं = लाजाहुतिं, चकार = अकरोत्।

समासः--विधात्रा प्रतिमः विधातृप्रतिमस्तेन। मत्तचकोरस्य नयने इव नयने यस्याः सा मत्तचकोरनेत्रा, लज्जा अस्य अस्याः अस्तीति लज्जावती। लाजानां विसर्गस्तं लाजविसर्गम्।

कोशः--'समा स्नुषाजनी वध्वश्चिरण्टी तु सुवासिनी' इत्यमरः।

भावार्थः--नितम्बिनी ब्रह्मसदृशेन विदर्भपुरोहितेन जहुधीति आज्ञापिता मत्तचकोरनयना प्रशस्तलज्जायुक्ता सा वधूः अग्नौ लाजाहुतिं चकार।

भावार्थ--विदर्भराज पुरोहित के द्वारा हवन में नियुक्त नितम्बिनी मत्त-चकोरनयना उस वधू इन्दुमती ने सलज्ज अग्नि में लाजा की आहुति की॥२५॥

हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे॥२६॥

सञ्जीविनी--हविरिति। हविष आज्यादेः शमीपल्लवानां लाजानां च गन्धोऽस्यास्तीति हविःशमीपल्लवलाजगन्धी। 'शमीपल्लवमिश्रांल्लाजानञ्जलिना वपति'. इति कात्यायनः। पुण्यो धूमः कृशानोः पावकादुदियायोद्भूतः। कपोलयोः संसर्पिणी प्रसरणशीला शिखा यस्य स तथोक्तः स धूमस्तस्या वध्वा मुहूर्तं कर्णोत्पलतां कर्णाभरणतां प्रपेदे। मन्दं मन्दं कुण्डलाकारतां प्रापेत्यर्थः।

अन्वयः--हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः धूमः कृशानोः उदियाय, कपोलसंसर्पिशिखः स (धूमः) तस्या मुहूर्त्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे।

वाच्य०--हविःशमीपल्लवलाजगन्धिना पुण्येन धूमेन कृशानोः उदीये। कपोलसंसर्पिशिखेन तेन तस्या मुहूर्त्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे।

चन्द्रिका--हविषः शमीपल्लवस्य लाजानां च गन्धोऽस्यास्तीति हविःशमीपल्लवलाजगन्धी=आज्यादिशमीपल्लवलाजगन्धयुक्तः, पुण्यः=सुखकरः, धूमः, कृशानोः=पावकाद्, उदियाय - उद्गतोऽभवत्, कपोलसंसर्पिशिखः=गण्डासक्ताग्रभागः, सः = धूमः, मुहूर्तकर्णोत्पलतां = क्षणकर्णाभरणतां; प्रपेदे-प्राप।

समासः—कपोलयोः संसर्पिणी शिखा यस्य सः कपोलसंसर्पिशिखः, मुहूर्त्तं कर्णयोरुत्पलतां मुहूर्त्तकर्णोत्पलताम् ।

कोशः—'शमी सक्तुफला शिवा' 'कृशानुः पावकोऽनलः' इत्यमरः ।

भावार्थः—आज्यादि-शमीपल्लवादिमिश्रितेन लाजाहोमेन अतीव-सुखकरः धूमः अग्नेः सकाशात् समुत्पन्नोऽभवत् । स च दम्पत्योः कपोलयोः परिसर्पणात् क्षणमात्रं तयोः कर्णाभरणतां प्राप्तवान् ।

भाषार्थ—विवाह में घृत समीपल्लव मिश्रित लाजा की आहुति से अत्यन्त सुखकारी धूम, अग्नि से उत्पन्न हुआ और दम्पती के कपोल पर फैलकर वह क्षणभर के लिए उनके कर्णभूषणता को प्राप्त किया ॥ २६ ॥

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजांकुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद् बभूव ॥ २७ ॥

सञ्जीविनी—तदञ्जनेति । तद्वधूमुखमाचारेण प्राप्ताद्धूमग्रहणात् । अञ्जनस्य क्लेदोऽञ्जनक्लेदः । अञ्जनमिश्रबाष्पोदकमित्यर्थः । तेन समाकुलाक्षम् । प्रम्लानो बीजाङ्कुरो यवाङ्कुर एव कर्णपूरोऽवतंसो यस्य तत्पाटल-गण्डलेखमरुणगण्डस्थलं च बभूव ।

अन्वयः—तद्वधूमुखं आचारधूमग्रहणात्, अञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्ला-नबीजाङ्कुरकर्णपूरं, पाटलगण्डलेखं च बभूव ।

वाच्य०—तेन वधूमुखेन, आचारधूमग्रहणात् अञ्जनक्लेदसमाकुला-क्षेन प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरेण पाटलगन्धलेखेन च बभूवे ।

चन्द्रिका—तद् वध्वाः मुखं तद्वधूमुखं=इन्दुमत्याननम्, आचारस्य धूमः आचारधूमस्तस्य ग्रहणात् आचारधूमग्रहणात्, अञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं=अञ्जनमिश्रबाष्पोदकनयनं, प्रम्लानबीजांकुरकर्णपूरं=मलिनयवांकुरकर्णा-वतंसा, पाटलगण्डलेखम्=अरुणगण्डस्थलं च, बभूव=अभवत् ।

समासः—अञ्जनस्य क्लेदोऽञ्जनक्लेदः तेन समाकुले अक्षिणी यस्मिन् तदञ्जनक्लेनसमाकुलाक्षं, प्रम्लानं यद्बीजांकुरं प्रम्लानबीजांकुरं प्रम्लान-बीजांकुर एव कर्णपूरः प्रम्लानबीजांकुरकर्णपूरं, पाटलं च तद् गण्डलेखं पाटल-गण्डलेखम् ।

कोशः—'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' 'गण्डौ कपोलौ' इत्यमरः ।

भावार्थः—इन्दुमतीमुखम् आचारधूमग्रहणात् अञ्जनक्लेदयुतनयनं प्रम्लानयवांकुरकर्णावतंसम् अरुण गण्डस्थलं च बभूव ।

भाषार्थ -- विवाह के समय उस इन्दुमती का मुख वैवाहिक अग्नि के धूम के ग्रहण से उसके नेत्र अञ्जन के वाष्पोदक से अश्रुपूरित हो गयें, कर्णाभरण मलिन यवांकुर के सदृश हो गये तथा गण्डस्थल अरुण वर्ण के हों गये ।।२७।।

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ।।२८।।

सञ्जीविनी--ताविति । कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैर्गृहस्थ-विशेषैः । कृतसमावर्तनैरित्यर्थः । 'स्नातकस्त्वाप्लनो व्रती' इत्यमरः । बन्धुमता बन्धुपुरःसरेणेत्यर्थः । राज्ञा च पुरंध्रिभिः पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिश्च क्रमशः प्रयुक्तं स्नातकादीनां पूर्वपूर्ववैशिष्टयात्क्रमेण कृतमार्द्राक्षतानामारोपणमन्व-भूतामनुभूतवन्तौ ।

अन्वयः--कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैः बन्धुमता राज्ञा च पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्, आर्द्राक्षतरोपणम् अन्वभूताम् ।

वाच्य०--कनकासनस्थाभ्यां ताभ्यां कन्याकुमाराभ्यां स्नातकैः बन्धुमता राज्ञा च पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तं आर्द्राक्षतारोपणम् अन्वभूयताम् ।

चन्द्रिका -कनकासनस्थौ=स्वर्णसिंहासनसंस्थितौ, तौ, कन्या च कुमारश्च कन्याकुमारौ=वरवधू, स्नातकैः=कृतसमावर्तनगृहस्थविशेषैः, बन्धुमता=बन्धु-पुरःसरेण, राज्ञा=नृपेण च, पुरन्ध्रिभिश्च=पतिपुत्रवतीभिः, नारिभिः, क्रमशः प्रयुक्तं=कृतं, आर्द्राक्षतारोपणं=सार्द्राक्षतकृताशिषः च, अन्वभूतां=अनुभूतवन्तौ ।

समासः--कनकासने तिष्ठतीति कनकासनस्थस्तौ कनकासनस्थौ । आर्द्रा-नामक्षतानामारोपणम् आर्द्राक्षतारोपणम् ।

कोशः- 'स्नातकस्त्वाप्लतो व्रती', 'पुरन्ध्री सुचरित्रा' इत्यमरः ।

भावार्थः--कनकासने स्थितौ तौ दम्पती स्नातकैः बन्धुपुरःसरेण नृपेण पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिः प्रदत्तम् आर्द्राक्षतरूपमाशिषं गृहीतवन्तौ ।

भाषार्थ--विवाहानन्तर सुवर्णासन पर विराजमान उन दम्पती ने क्रमशः स्नातकों, बन्धुसंयुक्त राजा एवं पतिपुत्रवती स्त्रियों के द्वारा प्रदत्त आर्द्राक्षत रूपात्मक आशिष ग्रहण किया ।। २८ ।।

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥२९॥

सञ्जीविनी--इतीति । अधिश्रीरधिकसंपन्नो भोजकुलप्रदीपः स राजा । इति स्वसुरिन्दुमत्याः पाणिग्रहणं विवाहं संपाद्य कारयित्वा । महीपतीनां राज्ञां पृथगेकैकशोऽर्हणार्थं पूजार्थमधिकृतानधिकारिणः समादिदेशाज्ञापयामास ।

अन्वयः--अधिश्रीः भोजकुलप्रदीपः सः राजा इति स्वसुः पाणिग्रहणं संपाद्य महीपतीनां पृथक् अर्हणार्थम् अधिकृतान् समादिदेश ।

वाच्य०--अधिश्रिया भोजकुलप्रदीपेन तेन इति स्वसुः पाणिग्रहणं संपाद्य महीपतीनां पृथक् अर्हणार्थम् अधिकृताः आदिदिशे ।

चन्द्रिका-अधिगता श्रीयेन स अधिश्रीः=अधिकसंपन्नः, भोजकुलस्य प्रदीपः भोजकुलप्रदीपः=भोजकुलभूषणः सः=राजा, इति=अनेन प्रकारेण, स्वसुः=इन्दुमत्याः, पाणिग्रहणं=विवाहं, संपाद्य=कारयित्वा, महीपतीनां=राज्ञां, पृथक्=एकैकशः, अर्हणार्थम्=पूजार्थं, अधिकृतान्=अधिकारिणः, आदिदेश=आज्ञापयामास ।

समासः--अधिगता श्रीर्येन सः, अधिका श्रीर्यस्य वा अधिश्रीः । भोजानां कुलं भोजकुलं, तस्य प्रदीपः भोजकुलप्रदीपः । पाणेः ग्रहणं पाणिग्रहणं तत् । मह्यते इति मही तस्याः पतयः महीपतयः तेषां महीपतीनाम् ।

कोशः--'भगिनी स्वसा' 'दीपः प्रदीपः' इत्यमरः ।

भावार्थः--भोजकुलप्रदीपः इत्थमिन्दुमत्याः विवाहं संपाद्य राज्ञां पृथक्-पृथक् पूजार्थं तत्तदधिकारिणः आज्ञापयामास ।

भाषार्थ--महाराज भोज इस प्रकार अपनी बहन इन्दुमती का विवाह सम्पन्न करा कर राजाओं की अलग-अलग पूजा करने के लिए अपने अधिकारियों को आज्ञा दी ॥ ९॥

लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन ॥३०॥

सञ्जीविनी--लिङ्गैरिति । मुदः सन्तोषस्य लिङ्गैश्चिह्नैः कपटहासादिभिः संवृतविक्रिया निगूहितमत्सराः । अतएव प्रसन्ना बहिर्निर्मला गूढनक्रा अन्तर्लीनग्राहा ह्रदा इव स्थितास्ते नृपा वैदर्भं भोजमामन्त्र्यापृच्छ्य तदीयां वैदर्भीयां पूजां सत्कारमुपदाच्छलेनोपायनमिषेण प्रत्यर्प्य ययुर्गतवन्तः ।

अन्वयः--मुदः लिङ्गैः संवृतविक्रियाः (अत एव) प्रसन्नाः गूढनक्राः ह्रदाः इव ते वैदर्भम् आमन्त्र्य तदीयां पूजाम् उपदाछलेन प्रत्यर्प्य ययुः ।

वाच्य०--मुदः लिङ्गैः संवृतविक्रियैः प्रसन्नैः गूढनक्रैः ह्रदैः इव, तैः वैदर्भं आमन्त्र्य तदीया पूजा उपदाछलेन प्रत्यर्प्य अयासिषुः ।

चन्द्रिका--मुदः = संतोषस्य, लिङ्गैः = चिह्नैः, संवृता विक्रिया येषां ते संवृतविक्रियाः = संगोपितमत्सरादिविकाराः, प्रसन्नाः = स्वच्छाः, गूढा नक्राः येषु ते गूढनक्राः = अन्तर्लीनग्राहाः, ते = नृपाः, वैदर्भं = भोजं, आमन्त्र्य = आपृच्छ्य, तदीयां पूजां = सत्कारं, उपदा एव छलं तेन उपदाछलेन = उपदाव्याजेयन, प्रत्यर्प्य = दत्वा, ययुः = अगच्छन् ।

समासः--संवृता विक्रिया यैस्तैः संवृतविक्रियाः, गूढाः नक्राः येषु ते गूढनक्राः । उपदायाः छलम् उपदाछलं तेन उपदाछलेन ।

कोषः--'जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो ह्रदः, 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः ।

भावार्थः- अन्तःसमत्सरा अपि सप्रसन्नतया स्वाभिप्रायमप्रकटितवन्तः नृपाः अन्तर्लीनग्राहा किन्तु वहिर्निर्मला सरा इव भोजसंबन्धिनीं पूजां प्रतिगृह्य उपायनव्याजेन तस्मै तां समर्प्य च तदीयानुज्ञामादाय जग्मुः ।

भाषार्थ--अन्तःकरण की मत्सरता को अपने कपट-हासादि प्रसन्नता से छिपाये हुए राजा लोग अन्तःस्थित ग्राह वाले स्वच्छ सलिलयुक्त तालाब की तरह भोजराज की पूजा को सादर ग्रहण कर, उसे उपायन द्वारा पुनः उन्हें प्रत्यर्पित कर लौटने लगे ॥ ३० ॥

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥३१॥

सञ्जीविनी—स इति । आरम्भसिद्धौ कार्यसिद्धौ विषये । पूर्वं कृता कृतपूर्वा । सुप्सुपेति समासः । कृतपूर्वा संवित्संकेतो मार्गावरोधरूप उपायो येन स तथोक्तः । 'संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां संकेताचारनामसु' इति केशवः । स राजलोकः समरोपलभ्यमजप्रस्थानकाले लभ्यम् । तदा तस्यैकाकित्वादिति भावः । 'समरोपलभ्यम्' इति पाठे युद्धसाध्यमित्यर्थः । तत्प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु । 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद् भोग्यवस्तुनि' इति केशवः । आदास्यमानो ग्रहीष्यमाणः सन् अजस्य पन्थानमावृत्यावरुध्य तस्थौ ।

अन्वयः—आरम्भसिद्धौ कृतपूर्वसंवित् स राजलोकः समयोपलभ्यं तत् प्रमदामिषम् आदास्यमानः सन् अजस्य पन्थानम् आवृत्य तस्थौ ।

वाच्य०-आरम्भसिद्धौ कृतपूर्वसंविदा तेन राजलोकेन समयोपलभ्यं तत्प्रमदामिषं आदास्यमानेन अजस्य पन्थानं आवृत्य तस्थे (भा० वा०) ।

चन्द्रिका—आरम्भसिद्धौ=कार्यसिद्धौ, कृतपूर्वसंवित्=कृतपूर्व-मन्त्रणासंकेतः, स राजलोकः=स राजगणः, समयोपलभ्यम्=अजप्रस्थानकाले प्राप्यं, तत्, प्रमदामिषं=स्त्रीभोग्यं, आदास्यमानः=ग्रहीष्यमाणः सन् अजस्य पन्थानं=मार्गं, आवृत्य=अवरुध्य, तस्थौ=स्थितवान् ।

समासः—आरम्भस्य सिद्धिरारम्भसिद्धिस्तस्यां आरम्भसिद्धौ, पूर्वं कृता कृतपूर्वा, कृतपूर्वा संवित् येन स कृतपूर्वसंवित् । समये उपलभ्यं समयोपलभ्यम्, प्रमदैव आमिषं प्रमदामिषम् ।

कोशः—'संविदागूः प्रतिज्ञानं' इत्यमरः ।

भावार्थः—कार्यसिद्धिविषये पूर्वकृतसंकेतो राजलोकोऽपि अजप्रस्थानकालप्राप्यं तत्प्रमदाभोग्यं ग्रहीष्यमाणः अजस्य मार्गमवरुध्य स्थितवान ।

भाषार्थ—अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रथम ही मन्त्रणा कर वह राज समूह अज के प्रस्थान काल में प्रापणीय उस स्त्री रूपी भोग्य को प्राप्त करने की इच्छा से अज के रास्ते को रोककर खड़ा हो गया ॥३१॥

भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥३२॥

सञ्जीविनी-भर्तेति । अनुष्ठितः संपादितोऽनन्तरजाया अनुजाया विवाहो येन स तथोक्तः क्रथकैशिकानां देशानां भर्ता स्वामी भोजोऽपि तावत्तदा सत्त्वानुरूपमुत्साहानुरूपं यथा तथा । आ समन्तात् । अनेनानियतवस्तुदानमित्यर्थः । हरणं कन्यायै देयं धनम् । तदेवाह कात्यायनः—'ऊढया कन्यया वाऽपि पत्युः पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः सकाशात् पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥' 'यौतकादि तु यद्देयं सुदायो हरणं च तत्' इत्यमरः । आहरणीकृता श्रीर्येन तथोक्तः सन् राघवमजं प्रास्थापयत्प्रस्थापितवान् । स्वयमन्वगादनुजगाम च ।

अन्वयः-अनुष्ठितानन्तरजाविवाहः क्रथकैशिकानां भर्त्ता अपि तावत् सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः सन् राघवं प्रास्थापयत् स्वयं च अन्वगात् ।

वाच्य०-अनुष्ठितानन्तरजाविवाहेन क्रथकैशिकानां भर्त्रा अपि सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रिया सता राघवः प्रस्थापयत स्वयं अन्वगायि च।

चन्द्रिका-अनुष्ठितानन्तरजाविवाहः=संपादितभगिनीविवाहः, क्रथकैशिकानां=विदर्भदेशानाम्, भर्त्ता अपि=स्वामी भोजोऽपि, सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः=उत्साहानुरूपप्रदत्तयौतुकः सन्, राघवं=अजं, प्रास्थापयत्=प्रस्थापितवान्, अन्वगात्=अनुजगाम च।

समासः-अनुतिष्ठः अन्तरजायाः विवाहो येन स अनुष्ठितानन्तरजाविवाहः, सत्त्वस्यानुरूपं सत्त्वानुरूपं सत्त्वानुरूपमाहरणीकृता श्रीर्येन स सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः।

कोशः-'विवाहोपयमौ समौ' 'तथा परिणयोद्वाहोपयामाः पाणिपीडनम्' 'कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः।

भावार्थः-भोजराजोऽपि स्वानुजाविवाहकार्यं संपाद्य अनन्तरं स्वोत्साहरूपं यौतकादिकं प्रदाय अजं संप्रेषयत् स्वयमेव पृष्ठतः जगाम च।

भावार्थ-भोजराज भी अपनी भगिनी का विवाह कार्य सम्पादन कर, उसे अपने उत्साहानुसार दहेज आदि देकर अज को विदा किया और स्वयं पीछे-पीछे चले ॥३२॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥३३॥

सञ्जीवनी--तिस्र इति। कुण्डिनं विदर्भनगरम्। तस्येशो भोजस्त्रिषु लोकेषु प्रथितेनाजेन सार्धं मार्गे पथि तिस्रो वसती रात्रीरुषित्वा स्थित्वा। 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया। पर्वात्ययं दर्शान्त उष्णरश्मेः सूर्यात्सोमश्चन्द्र इव। तस्मादजादपावर्तत। तं विसृज्य निवृत्त इत्यर्थः।

अन्वयः—कुण्डिनेशः त्रिलोकप्रथितेन अजेन सार्धं तिस्रः वसतीः मार्गे उषित्वा पर्वात्यये उष्णरश्मेः सोमः इव तस्मात् अपावर्तत।

वाच्य० -कुण्डिनेशेन त्रिलोकप्रथितेन अजेन सार्धं तिस्रः वसतीः उषित्वा पर्वात्यये उष्णरश्मेः सोमेन इव तस्मात् अपाववृते।

चन्द्रिका—कुण्डिनेशः=भोजराजः, त्रिलोकप्रथितेन=कीर्तिमता, अजेन

सार्धं तिस्रः वसतीः = रात्रीः, उषित्वा = स्थित्वा, पर्वात्यये = दर्शान्ते, उष्ण-रश्मेः = सूर्यात्, सोम इव = चन्द्र इव, अपावर्तत = निवृत्तः ।

समासः--कुण्डिनस्य ईशः कुण्डिनेशः, पर्वणः अन्तस्तस्मिन् पर्वात्यये, उष्णा रश्मयो यस्य सः, तस्मात् उष्णरश्मेः ।

कोशः--'प्रतीते प्रथित-ख्यात-वित्तविज्ञात-विश्रुताः' 'अजोजैवातृकः सोमो ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः ।

भावार्थः—भोजराजः अजेन सार्धं मार्गे रात्रित्रयं स्थित्वा दर्शान्ते सूर्यात् सोम इव तस्मात् न्यवर्त्तत ।

भाषार्थ—भोजराज भी अज के साथ मार्ग में तीन रात्रि निवास कर अज से विदा होकर इस प्रकार लौटे जिस प्रकार अमावास्या बीत जाने पर चन्द्रमा सूर्य से पुनः लौट आता है ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

सञ्जीविनी—प्रमन्यव इति । नृपा राजानः, प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीतधनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः । अतो हेतोः स्वयंवरार्थं समेताः संगताः सन्तस्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ।

अन्वयः--नृपाः प्रागपि प्रत्येकं आत्तस्वतया कोसलेन्द्रे प्रमन्यवः बभूवुः, अतः समेताः सन्तः तदात्मजस्य स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे ।

वाच्य०--नृपैः प्रत्येकं आत्तस्वतया कोसलेन्द्रे प्रमन्युभिः बभूविरे (भा० वा०) अतः समेतैस्तैस्तदात्मजस्य स्त्रीरत्नलाभः न अचक्षमत ।

चन्द्रिका--नृपाः = राजानः, प्रागपि = रघुदिग्विजयकालेऽपि, प्रत्येकम् आत्तस्वतया = रघुणा गृहीतधनेन हेतोः, कोसलेन्द्रे = रघौ, प्रमन्यवः = बद्धवैराः, बभूवुः = अभूवन्, अतः समेताः = इन्दुमतीस्वयंवरे समूहरूपेण संगतास्ते, तदात्मजस्य = अजस्य, स्त्रीरत्नलाभं = स्त्रीरत्नप्राप्ति, न चक्षमिरे = न सेहिरे ।

समासः--आत्तं च तत्स्वमात्तस्वं तस्य भावः आत्तस्वता तया आत्तस्वतया, तस्यात्मजस्तदात्मजस्तस्य तदात्मजस्य, स्त्री एव रत्नं स्त्रीरत्नं तस्य लाभः तं स्त्रीरत्नलाभम् ।

कोशः--'वैरं विरोधो विद्वेषो मन्द्रशोकौ शुकस्त्रियाम्' इत्यमरः।

भावार्थः--राजानः रघुदिग्विजयकाले गृहीतधनहेतुना प्रथममपि तस्मिन् बद्धवैरा अभवन्। इन्दुमतीस्वयंवरे समूहरूपेणागतास्ते पुनः अजेनापमानिताऽतस्ते, तस्य स्त्रीरत्नलाभं न सेहिरे।

भाषार्थ--राजा लोग दिग्विजय के समय रघु के द्वारा अपना धन ग्रहण कर लिये जाने मे प्रथम ही उनसे क्रुद्ध थे। अतः इन्दुमती के स्वयंवर में सामूहिक रूप से आए हुये वे रघुपुत्र अज के स्त्रीरत्न की प्राप्ति को किस प्रकार सहन कर सकते थे॥ ३४॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः॥ ३५॥

सञ्जीविनी-तमिति--दृप्त उद्धतः स राजन्यगणो राजसंघातः। भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्तं तमजम्। बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्तां श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणम्। त्रिविक्रमस्येमं त्रैविक्रमम्। पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव। पथि रुरोध। तथा च ब्राह्माण्डपुराणे--'विरोचनविरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन्। विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं रुरोध ह॥' इति।

अन्वयः--दृप्तः स राजन्यगणः भोजकन्याम् उद्वहन्तं तं बलिप्रदिष्टां श्रियम् आददानं त्रैविक्रमं पादम् इन्द्रशत्रुः इव पथि रुरोध।

वाच्य०--दृप्तेन तेन राजन्यगणेन भोजकन्यामुद्वहन् सः बलिप्रदिष्टां श्रियम् आददानः त्रैविक्रमः पादः इन्द्रशत्रुणा इव रुरुधे।

चन्द्रिका--दृप्तः=गर्वादुद्धतः, स राज्ञां समूह राजन्यस्तेषां गणः राजन्यगणः=राजसंघातः, भोजकन्यां=इन्दुमतीं, उद्वहन्तं=नयन्तं, तं=अजं, बलिप्रदिष्टां=बलिप्रदत्तां. श्रियं=राज्यं, आददानं=गृह्णन्तं, त्रिविक्रमस्येदं त्रैविक्रमं=विष्णुसम्बन्धि, पादं=चरणं, इन्द्रशत्रुः=प्रह्लाद इव, पथि=मार्गे, रुरोध=अरुन्धत।

समासः--भोजस्य कन्या भोजकन्या तां भोजकन्यां, तेन बलिना प्रदिष्टा बलिप्रदिष्टा तां बलिप्रदिष्टां, इन्द्रस्य शत्रुः इन्द्रशत्रुः।

कोशः--'पद्मनाभो मधुरिपुर्वासुदेवस्त्रिविक्रमः' 'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः। 'वाटः पथश्च मार्गश्च' इति त्रिकाण्डशेषः।

भावार्थः--अखर्वगर्वसंयुक्तः स राजन्यगणः पथि इन्दुमतीम् उद्वहन्तम् अजं

तथा रुरोध यथा बलिप्रदत्तां राज्यश्रियं गृह्णन्तं वामनं पथि प्रह्लाद रुरोध।

भाषार्थ--अत्यन्त उद्धत उन राजाओं ने इन्दुमती को ले जाते हुए अज को रास्ते में इस प्रकार रोका, जिस प्रकार बलि के द्वारा दिये गये राज्य-श्री को ग्रहण करते समय वामन को रास्ते में प्रह्लाद ने रोका था ॥ ३ ॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः।
प्रत्यग्रहात्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥३६॥

सञ्जीवनी-तस्या इति। स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभटम्। पितुरागतं पित्र्यम्। आप्तमित्यर्थः। सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम्। 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः। भागीरथीमुत्तरंगः शोणः शोणाख्या नद इव। प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान्।

अन्वयः--सः कुमारः तस्याः रक्षार्थम् अनल्पयोधं पित्र्यं सचिवम् आदिश्य, तां पार्थिववाहिनीं भागीरथीम् उत्तरङ्गः शोणः इव प्रत्यग्रहीत्।

वाच्य०—तेन कुमारेण तस्या रक्षार्थमनल्पयोधं पित्र्यं सचिवं आदिश्य सापार्थिववाहिनी भागीरथी उत्तरङ्गेण शोणेन इव प्रत्यग्राहि।

चन्द्रिका--सः कुमारः, तस्याः=इन्दुमत्याः, रक्षार्थम्, अनल्पा योधा यस्य तं अनल्पयोधं = बहुभटं, पितुरागतं पित्र्यं=आप्तं, सचिवं=अमात्यं, आदिश्य=आज्ञाप्यम्, तां पार्थिवानां वाहिनीं, पार्थिववाहिनीं= राजसेनां, भागीरथीं=गङ्गां, उत्तरङ्गः उत् ऊर्ध्वं तरङ्गः यस्य स उत्तरङ्गः=उन्नतवीचिः, शोण इव=शोणाख्यो नद इव, प्रत्यग्रहात्=अभियुक्तवान्।

समासः--रक्षायै इति रक्षार्थम्। न अल्पाः अनल्पाः अनल्पाः योधाः यस्य स अनल्पयोधः तम् अनल्पयोधम्। पितुरागतः पित्र्यः तम्। उद्गच्छन्तस्तरङ्गाः यस्मिन् स उत्तरङ्गः।

कोशः--'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः 'भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि', 'शोणो हिरण्यवाहः स्यात्' इत्यमरः।

भावार्थः-अजोऽपि इन्दुमत्याः रक्षणाय महाभटयुक्तमाप्तं सचिवमादिश्य, तां पार्थिववाहिनीं तथा प्रत्यहीत्, यथा भागीरथीं समुन्नततरङ्गः शोणः प्रतिगृह्णाति।

भाषार्थ—अज ने भी इन्दुमती के संरक्षण के लिए महाभट संयुक्त पितृ-परम्परागत सचिव को आदेश दे कर उन राजाओं को इस प्रकार रोका, जिस प्रकार भागीरथी को उत्ताल तरङ्गों वाला शोण रोकता है ॥ ३६ ॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद् गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥३७॥

सञ्जीविनी—पत्तिरिति । पत्तिः पादचारो योद्धा पदातिं पादचारमभ्यपतत् । पदा पादाभ्यामततीति पदातिः "पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु" इत्यनेन पदादेशः । 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः' इत्यमरः । रथेशो रथिको रथिनं रथारोहमभ्यपतत् । तुरंगसाद्यश्वारोहस्तुरगाधिरूढमश्वारोहमभ्यपतत् । 'रथिनः स्यन्दनारोहा अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यमरः । गजस्य यन्ता हस्त्यारोहो गजस्थं पुरुषमभ्यपतत् । इत्थमनेन प्रकारेण तुल्यप्रतिद्वन्द्विमेकजातीयप्रतिभटं युद्धं बभूव । अन्योन्यं द्वन्द्वं कलहोऽस्त्येषामिति प्रतिद्वन्द्विनो योधाः । 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः ।

अन्वयः—पत्तिः पदातिं रथेशः रथिनं, तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढं गजस्य यन्ता गजस्थम् अभ्यपतत्, इत्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि युद्धं बभूव ।

वाच्य०—पत्तिना पदातिः, रथेशेन रथी, तुरङ्गसादिना तुरगाधिरूढः गजस्य यन्त्रा गजस्थः अभ्यपत्यत, इत्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्विना युद्धेन बभूवे ।

चन्द्रिका—पत्तिः = पादचारः योद्धा, पदातिं = पादचारिणं, रथेशः = रथी, रथिनं = रथारूढं, तुरङ्गसादी = अश्वारोहः, तुरगाधिरूढं = अश्वारोहं; गजस्य यन्ता = हस्त्यारोहः, गजस्थं = गजस्थं हस्त्यारोहं पुरुषं, अभ्यपतत् = अयुध्यत, इत्थं = अनेन प्रकारेण, तुल्यप्रतिद्वन्द्वि = एकजातीयप्रतिभटं, युद्धं = रणं, बभूव = अभवत् ।

समासः—पद्यते इति पत्तिः, पादाभ्यामततीति पदातिः, रथस्य ईशः रथेशः, रथमस्यास्तीति रथी तं रथिनं, तुरगेऽधिरूढस्तं तुरगाधिरूढं, तुल्यं प्रतिद्वन्द्विनः यस्मिंस्तत् तुल्यप्रतिद्वन्द्वि ।

कोशः—'रथेशो रथिको रथी' 'अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यमरः ।

भावार्थः—तस्मिन् युद्धे पदातिः पादचारिणं, रथी रथिनं, अश्वारोहः

अश्वारोहं, गजस्थः गजस्थमयुद्धयत इत्थं, समानजातीयानां समानजातीयेषु परस्परं युद्धं बभूव ।

भाषार्थ—पैदल योधा पैदल योधाओं के साथ, रथी रथियों से, घुड़सवार घुड़सवारों से तथा हाथी वाले योधा हाथीवाले योधाओं के साथ लड़ रहे थे। इस प्रकार दोनों सेनाओं में समान योद्धाओं का समान योद्धाओं के साथ युद्ध होने लगा ॥ ३७ ॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥३८॥

सञ्जीविनी—नदत्स्विति । तूर्येषु नदत्सु सत्स्वविभाव्यवाचोऽनवधार्यगिरश्चापभृतो धानुष्काः कुलमुपदिश्यते प्रख्याप्यते यैस्ते कुलोपदेशास्तान्कुलनामानि नोदीरयन्ति स्म नोच्चारयामासुः । श्रोतुमशक्यत्वाद्वाचो नाब्रुवन्नित्यर्थः । किंतु बाणाक्षरैर्बाणेषु लिखिताक्षरैरेव परस्परस्यान्योन्यस्योर्जितं प्रख्यातं नाम शशंसुरूचुः ।

अन्वयः—तुर्येषु नदत्सु सत्सु अविभाव्यवाचः चापभृतः कुलोपदेशान् न उदीरयन्ति स्म, किन्तु बाणाक्षरैः एव परस्परस्य ऊर्जितं नाम शशंसुः ।

वाच्य०—तुर्येषु नदत्सु अविभाव्यवाग्भिः चापभृद्भिः कुलोपदेशाः—नोदीर्यन्ते, तैः—बाणाक्षरैः (करणकैः) एव परस्परस्य ऊर्जितं नाम शशंसे ।

चन्द्रिका—तुर्येषु = वाद्येषु, नदत्सु = वाद्यमानेषु, अविभाव्यवाचः = अनवधार्यगिरः, चापभृतः = धानुष्काः, कुलोपदेशान् = कुलनामानि, न उदीरयन्ति = न उच्चारयामासुः, तदा ते बाणाक्षरैः = बाणाङ्किताक्षरैः, एव परस्परस्य = अन्योन्यस्य, ऊर्जितं = प्रख्यातं, नाम = अभिधेयं, शशंसुः = ऊचुः ।

समासः—अविभाव्या वाग् येषां ते अविभाव्यवाचः, चापं बिभ्रतीति चापभृतः, कुलस्य उपदेशान् कुलोपदेशान, बाणानामक्षराणि बाणाक्षराणि तैः बाणाक्षरैः ।

कोशः—'धनुश्चापौ धन्वशरासन-कोदण्ड-कार्मुकम्' 'पृषत्कबाणविशिखा' इत्यमरः ।

भावार्थः—वाद्येषु वाद्यमानेषु, अश्राव्यगिरो धानुष्काः स्वकुलनामानि नोच्चारयन्ति, किन्तु बाणेषु लिखिताक्षरैरेव परस्परस्य प्रख्यातं नाम ऊचुः ।

भावार्थ—उस युद्ध में बाजे बजने के कारण कुछ सुनाई नहीं देता था इसलिये धनुर्धारी लोग अपने कुल का नाम–अपने प्रतिद्वन्द्वी योद्धाओं से नहीं कहते थे, किन्तु अपने बाणों के ऊपर लिखे हुए अक्षरों द्वारा ही उन्होंने अपने प्रशस्तकुल का नाम एक दूसरे को बताया ॥ १८ ॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥ ३९ ॥

सञ्जीविनी—उत्थापित इति । संयति संग्रामेऽश्वैस्तुरगैरुत्थापितः । स्यन्दनवंशानां रथसमूहानां चक्रैः रथाङ्गैः 'चक्रं सैन्ये जलावर्ते रथावयवराष्ट्रयोः । संसारमण्डले वृत्ते धर्मभेदास्त्रभेदयोः ॥' इति वैजयन्ती । सान्द्रीकृतो घनीकृतः । 'वंशः पृष्ठास्थिन गेहोर्ध्वकाष्ठे वेणौ गणे कुले' इति केशवः । कुञ्जरकर्णानां तालैस्ताडनैर्विस्तारितः प्रसारितो रेणुर्नेत्रक्रमेणांशुकपरिपाट्याम् । अंशुकमिवेत्यर्थः । 'स्याज्जटांशुकयोर्नेत्रम्' इति । 'क्रमोऽङ्घ्रौ परिपाट्यां च' इति च केशवः । सूर्यमुपरुरोधाच्छादयामास ।

अन्वयः—संयति अश्वैः उत्थापितः स्यन्दनवंशचक्रैः सान्द्रीकृतः कुञ्जरकर्णतालैः विस्तारितः रेणुः नेत्रक्रमेण सूर्यम् उपरुरोध ।

वाच्य०—संयति अश्वैः उत्थापितेन स्यन्दनवंशचक्रैः सान्द्रीकृतेन कुञ्जरकर्णतालैः विस्तारितेन रेणुना, नेत्रक्रमेण सूर्यः उपरुरुधे ।

चन्द्रिका—संयति = युद्धे, अश्वैः = तुरगैः, उत्थापितः = उद्गमितः, स्यन्दनवंशचक्रैः—रथाङ्गैः, सान्द्रीकृतः—सघनीकृतः, कुञ्जरकर्णतालैः = हस्तिकर्णताडितैः, विस्तारितः = प्रसारितः, रेणुः—धूलिः, नेत्रक्रमेण—अंशुकेन इव, सूर्यं—आदित्यं, उपरुरोध = आच्छादयत् ।

समासः—स्यन्दनानां वंशाः स्यन्दनवंशास्तेषां चक्राणि तैः स्यन्दनवंशचक्रैः, न सान्द्रः असान्द्रः असान्द्रः सान्द्रः कृतः सान्द्रीकृतः, कुञ्जराणां कर्णानि कुञ्जरकर्णानि तेषां तालैः कुञ्जरकर्णतालैः, नेत्राणां क्रमो नेत्रक्रमस्तेन नेत्रक्रमेण

कोशः—'वंशः पृष्ठास्थिन गेहोर्ध्व-काष्ठे वेणौ गणे कुले' इत्यमरः । 'स्याज्जटांशुकयोर्नेत्रम्', 'क्रमोऽङ्घ्रौ परिपाट्यां च' इति च केशवः ।

भावार्थः—तस्मिन् युद्धे अश्वैरुर्ध्वमुद्गमितः, रथचक्रेण घनीभूतः,

हस्तिकर्णैन प्रसारितो धूलिः, अंशुकपरिपाट्या सूर्यम् आच्छादयामास ।

भाषार्थ--उस युद्ध में घोड़ों के टाप से उठी हुई, रथ के चक्कों से उड़ी हुई तथा हाथियों के कान के फटकारने से फैली हुई धूलि वस्त्रों की तरह सूर्य को ढक लिया ।। ३९ ।।

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ।।४०।।

सञ्जीविनी--मत्स्येति । वायुवशाद्विदीर्णैर्विवृत्तैर्मुखैः प्रवृद्धानि ध्वजिनीरजांसि सैन्यरेणून् पिबन्तो गृह्णन्तो मत्स्यध्वजा मत्स्याकारा ध्वजाः पर्याविलानि परितः कलुषाणि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्याः सत्यमत्स्या इव । बभुर्भान्ति स्म ।

अन्वयः--वायुवशाद् विदीर्णैः मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि पिबन्तः मत्स्यध्वजाः, पर्याविलानि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्या इव बभुः ।

वाच्य०--वायुवशाद् विदीर्णैः मुखैः प्रवृद्धध्वजिनी रजोभिः पिबद्भिः मत्स्यध्वजैः पर्याविलानि नवोदकानि पिबद्भिः परमार्थमत्स्यै इव अभासिषुः (भा. वा.) ।

चन्द्रिका--वायुवशाद् = पवनवेगात्, विदीर्णैः=व्यावृतैः, मुखैः=अग्रभागैः, =आननैः, प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि = संवृद्धसैन्यरेणून्, पिबन्तः = गृह्णन्तः, मत्स्यध्वजाः = मत्स्याकारपताकाः, पर्याविलानि=परितः कलुषाणि, नवोदकानि = वर्षायां प्रथमजलानि, पिबन्तः, परमार्थमत्स्याः = सत्यमत्स्या इव, बभुः = भान्ति स्म ।

समासः--वायोः वशात् वायुवशात्, प्रवृद्धानि च तानि ध्वजिनीनां रजांसि प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि; मत्स्याकारा ध्वजाः मत्स्यध्वजाः,नवानि च तानि उदकानि नवोदकानि, परितः आविलानि पर्याविलानि; परमार्थाश्च ते मत्स्याः परमार्थमत्स्याः ।

कोशः--'रजः क्लीवं गुणान्तरे । आर्तवे च परागे च रेणुमात्रेऽपि दृश्यते' इति मेदिनी । 'आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः ।

भावार्थः--वायुवेगेनोद्धताग्रभागाः सैन्यरजांसि पिबन्तः मत्स्याकाराध्वजाः, वर्षाकाले नवानि कलुषोदकानि, पिबन्तः सत्यमत्स्या इव शुशुभिरे ।

भावार्थ--उस युद्ध में वायु के उड़ने से ऊपर उठे मत्स्याकार पताकाओं के मुख में सेना की धूल पड़ रही थी जिससे वह मत्स्याकार ध्वजा वर्षाकाल में नवीन जल को पीती हुई वास्तविक मत्स्यों की तरह जान पड़ती थी ॥४०॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः।
स्वभर्तृनामग्रहणाद् बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥

सञ्जीविनी--रथ इति। सान्द्रे प्रवृद्धे रजसि रथो रथाङ्गध्वनिना चक्रस्वनेन विजज्ञे ज्ञातः। नागो हस्ती विलोलानां घण्टानां क्वणितेन नादेन विजज्ञे। आत्मपरावबोधः स्वपरविवेकः। योधानामिति शेषः। स्वभर्तृणां स्वस्वामिनां नामग्रहणान्नामोच्चारणाद् बभूव। रजोऽन्धतया सर्वे स्वं परं च शब्दादेवानुमाय प्रजह्रुरित्यर्थः।

अन्वयः—सान्द्रे रजसि रथः रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे, नागः विलोलघण्टाक्वणितेन विजज्ञे आत्मपरावबोधः स्वभर्तृनामग्रहणाद् बभूव।

वाच्य०--सान्द्रे रजसि रथेन रथाङ्गध्वनिना नागविलोलघण्टाक्वणितेन, आत्मपरावबोधेन स्वभर्तृनामग्रहणाद् बभूवे।

चन्द्रिका—सान्द्रे = प्रवृद्धे, रजसि रथः, रथाङ्गध्वनिना = रथचक्रस्वनेन, विजज्ञे = विज्ञातः, नागः = हस्ती, विलोलघण्टाक्वणितेन = चलद्घण्टाशब्देन, आत्मपरावबोधः = स्वपरविवेकः, स्वभर्तृनामग्रहणात् = स्वस्वामिनामग्रहणेन, बभूव = अभवत्।

समासः—रथाङ्गस्य ध्वनिः रथाङ्गध्वनिस्तेन रथाङ्गध्वनिना, विलोलानां घण्टानां क्वणितं विलोल घण्टाक्वणितं तेन विलोलघण्टाक्वणितेन, स्वात्मनः परस्य चावबोधः स्वात्मपरावबोधः, स्वस्य भर्त्ता स्वभर्त्ता, स्वभर्तुःनामस्वभर्तृनाम तस्य ग्रहणं तस्मात् स्वभर्तृनामग्रहणात्।

कोशः--'घनं निरन्तरं सान्द्रम्' 'मतङ्गजो गजो नागः' 'घण्टा-पाटलिर्मोक्षमुष्ककौ' इत्यमरः।

भावार्थः--तस्मिन् युद्धे प्रवृद्धरजोऽन्धतया रथस्य ज्ञानं रथचक्रशब्देन हस्तिनः ज्ञानं चलद्घण्टारवेण स्वस्य परपक्षस्य च ज्ञानं स्वभर्तृनामग्रहणेन अभवत्, एवं रजोऽन्धतया स्वं स्वं परं च शब्दादेवानुमीयते।

भावार्थ--इस युद्ध में धूलि से घोर अन्धकार हो जाने के कारण रथ का

ज्ञान, रथ के चक्के से, हाथी का ज्ञान घण्टा के शब्द से तथा अपने और पराये पक्ष का ज्ञान अपने-अपने स्वामी के नाम ग्रहण से होता था ॥४१॥

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥

सञ्जीविनी--आवृण्वत इति । लोचनमार्गमावृण्वतो दृष्टिपथमुपरुन्धन्तः । आजौ युद्धे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य । रज एवान्धकारं तस्य । शस्त्रक्षतेभ्योऽश्वद्विपवीरेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तो रुधिरप्रवाहो बालारुणो बालार्कोऽभूत् । 'अरुणो भास्करेऽपि स्यात्' इत्यमरः । बालविशेषणं रुधिरसावर्ण्यार्थम् ।

अन्वयः—लोचनमार्गम् आवृण्वतः आजौ विजृम्भितस्य रजोऽन्धकारस्य शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा रुधिरप्रवाहः बालारुणः अभूत् ।

वाच्य०—लोचनमार्गम् आवृण्वतः आजौ विजृम्भितस्य रजोऽन्धकारस्य शस्त्रक्षताश्वद्विपवरिजन्मना रुधिरप्रवाहेण बालारुणेन बभूवे ।

चन्द्रिका--लोचनमार्गम् = नेत्रपन्थानं, आवृण्वतः = अनुरुन्धतः, आजौ = युद्धे, विजृम्भितस्य = व्याप्तस्य, रजोऽन्धकारस्य = रजोऽन्धतमसः, शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा = शस्त्राहताश्वद्विपवीरोत्पन्नः, रुधिरप्रवाहः = रुधिरवेगः, बालारुणः = बालार्कः, अभूत् = अभवत् ।

समासः—लोचनस्य मार्गं लोचनमार्गं, रज एवान्धकारं तस्य रजोऽन्धकारस्य; शस्त्रैः क्षता शस्त्रक्षता, अश्वाश्वद्विपाश्च वीराश्च अश्वद्विपवीराः शस्त्रक्षताश्च ते अश्वद्विपवीरास्तेभ्यः जन्म यस्य स शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा, रुधिरस्य प्रवाहः रुधिरप्रवाहः, बालश्चासौ अरुणश्च बालारुणः ।

कोशः—'अरुणो भास्करेऽपि स्यात्' 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणम्' इत्यमरः ।

भावार्थः-नेत्रदृष्टिमनुरुन्धतः आजौ व्याप्तस्य अन्धकाराख्यशस्त्राहतघोटकहस्तिवीरजन्यो रुधिरवेगः बालार्कोऽभूत् ।

भाषार्थ—उस युद्ध में रजोऽन्धकार के कारण दृष्टि से कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था और घोर अन्धकार में शस्त्र के द्वारा मारे गये घोड़े, हाथी तथा वीरों के द्वारा उत्पन्न रक्त का प्रवाह प्रभातकालीन सूर्य के समान जान पड़ता था ॥ ४२ ॥

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अंगारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ।। ४३ ।।

सञ्जीविनी-स इति । क्षतजेन रुधिरेण छिन्नमूलः, त्याजितभूतलसंबन्ध इत्यर्थः । तस्य क्षतजस्योपरिष्टात्पवनावधूतो वाताहतः स रेणुः । अङ्गारशेषस्य हुताशनस्याग्नेः पूर्वोत्थितो धूम इव । आबभासे दिदीपे ।

अन्वयः—क्षतजेन छिन्नमूलः, तस्य उपरिष्टात् पवनावधूतः स रेणुः अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितः धूमः इव आबभासे ।

वाच्य०—क्षतजेन छिन्नमूलेन, तस्य उपरिष्टात् पवनावधूतेन रेणुना अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितेन धूमेन इव आबभासे (भा. वा.) ।

चन्द्रिका—क्षतजेन = रुधिरेण, छिन्नमूलः = त्यक्तभूतलसंबन्धः, तस्य = रुधिरस्य, उपरिष्टात् = ऊर्ध्वं, पवनेन अवधूतः पवनावधूतः = वातोद्धूतः, स रेणुः, अङ्गारशेषस्य = अङ्गारमात्रावशिष्टस्य, हुताशनस्य = अग्नेः, पूर्वोत्थितः = पूर्वमुद्गतः धूम इव, आबभासे = बभौ ।

समासः—छिन्नं मूलं यस्य स छिन्नमूलः, पवनेन अवधूतः पवनावधूतः, अङ्गार एव शेषो यस्य सोऽङ्गारशेषः, तस्य अङ्गारशेषस्य, पूर्वम् उत्थितः पूर्वोत्थितः ।

कोशः—'अङ्गार-धनिकाङ्गार-शकट्यपि' इत्यमरः, हस्त्यङ्गार 'रथान्यां च मल्लिका शाकिनीभिदोः' इति च विश्वः ।

भावार्थः—रुधिरप्रवाहेण भूतलादुपरि समुद्गतः पुनः वातवशेन रुधिरोपरि प्रवहमाणः रेणुः अङ्गारमात्रावशिष्टस्याग्नेः पूर्वमुद्गतो धूम इव बभौ ।

भाषार्थ—रुधिर के प्रवाह से जमीन को छोड़ कर उठी हुई, किन्तु वायु के बहने से रक्तधारा के ऊपर बहने वाली धूलि अङ्गार मात्रावशिष्ट अग्नि के पूर्व में उत्पन्न धूम की तरह ज्ञात होती थी ।। ४३ ।।

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान् ।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ।।४४।।

सञ्जीविनी-प्रहारेति । रथस्था रथिनः प्रहारेण या मूर्च्छा तस्या अपगमे सति । मूर्च्छितानामन्यत्र नीत्वा संरक्षणं सारथिधर्मं इति कृत्वा । निवर्तिताश्वान् यन्तॄन्सारथीनुपालभ्यासाधु कृतमित्यधिक्षिप्य । पूर्वं यैः स्वयं सादिता हताः

लक्षितपूर्वकेतून् । पूर्वदृष्टैः केतुभिः प्रत्यभिज्ञातानित्यर्थः । तानेव प्रतियोधान् सामर्षतया सकोपत्वेन हेतुना निजघ्नुः प्रजह्रुः ।

अन्वयः—रथस्थाः प्रहारमूर्च्छापगमे सति निवर्त्तिताश्वान् यन्तॄन् उपालभ्य, यैः (पूर्वं) सादिताः, लक्षितपूर्वकेतून् तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ।

वाच्य०--रथस्थैः प्रहारमूर्च्छोपगमे निवर्त्तिताश्वान् यन्तॄन् उपालभ्य पूर्वं ये सादितवन्तः लक्षितपूर्वकेतवस्ते एव निजघ्निरे ।

चन्द्रिका--रथस्थाः = रथस्थितयोद्धारः, प्रहारमूर्च्छोपगमे = प्रहारानन्तरं मूर्च्छोपगते, निवर्त्तिताश्वान् = परावर्त्तिततुरगान्, यन्तॄन् = सारथीन्, उपालभ्य = आक्षिप्य, पूर्वं यैः सादिताः = आहताः, लक्षितपूर्वकेतून् = पूर्वदृष्टपताकाभिः परिज्ञातान् तानेव = प्रतिद्वन्द्विनः. निजघ्नुः = घातितवन्तः ।

समासः—रथे तिष्ठन्तीति रथस्थाः, प्रहारेण या मूर्च्छा प्रहारमूर्च्छा तस्या अपगमस्तस्मिन् प्रहारमूर्च्छोपगमे, निवर्त्तिता अश्वा यैस्ते निवर्त्तिताश्वस्तान् निवर्त्तिताश्वान्, लक्षितः पूर्वं केतुः येषां ते, तान् लक्षितपूर्वकेतून् ।

कोशः--'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहोऽपि', 'तुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः' इत्यमरः ।

भावार्थः--रथिनः मूर्च्छापगते परावर्त्तिततुरगान् स्वसारथीन् उपालभ्य पूर्वं यैराहतास्तानेव पूर्वपताकाभिरनुमाय प्रजघ्नुः ।

भाषार्थ--रथी लोग मूर्च्छा के बीत जाने पर घोड़ों को युद्ध भूमि से लौटाने वाले अपने सारथियों को अनेक प्रकार की आक्षेप की बातें कह कर पुनः पूर्व पताका के द्वारा प्रत्यभिज्ञात [अपने शत्रु को] अभिलक्ष कर उन पर प्रहार करते थे ॥ ४८ ॥

अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥ ४९॥

सञ्जीविनी--अप्यर्धमार्ग इति । अर्धश्चासौ मार्गश्च अर्धमार्गस्तस्मिन्नर्धमार्गे, परेषां बाणैर्लूनाश्छिन्ना अपि हस्तवतां कृतहस्तानां धनुर्भृतां पृषत्काः शरा आत्मजवानुवृत्त्या स्ववेगानुबन्धेन हेतुना फलिभिर्लोहाग्रवद्भिः । 'सस्यबाणाग्रयोः फलम्' इति विश्वः । पूर्वार्धभागैः । शृणातीति शरुः । तस्मै हितं शरव्यं लक्ष्यम् । 'उगवादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः । 'लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः संप्रापुरेव न तु मध्ये पतिता इत्यर्थः ।

अन्वयः—अर्धमार्गे परवाणलूना अपि हस्तवतां धनुर्भृतां पृषत्काः आत्मजवानुवृत्त्या फलिभिः पूर्वार्धभागैः शरव्यं संप्रापुः एव ।

वाच्य०—अर्धमार्गे परवाणलूनैः हस्तवतां धनुर्भृतां पृषत्कैः आत्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यः प्रापे ।

चन्द्रिका—अर्धश्चासौ मार्गः अर्धमार्गस्तस्मिन् अर्धमार्गे, मार्गमध्ये, परवाणलूनाः = शत्रुवाणछिन्नाः अपि, हस्ताः सन्ति एषामिति हस्तवन्तस्तेषां हस्तवतां = कृतहस्तानां, धनुर्भृतां = चापधारिणां, पृषत्काः=वाणाः, आत्मजवानुवृत्त्या – स्ववेगानुबन्धेन, पूर्वार्धभागैः, फलाः सन्ति एषु इति फलिनस्तैः फलिभिः = लोहायद्भिः शरव्यं,लक्ष्यं प्रापुरेव = प्राप्तवन्त एव मध्ये तु न पतिता इति भावः ।

समासः—परेषां बाणाः परबाणलूनास्तैः परबाणलूनैः, धनुर्बिभ्रतीति धनुर्भृतस्तेषां धनुर्भृतां, आत्मजवानुवृत्त्या आत्मनो जवः आत्मजवस्तस्या वृत्तिस्तया आत्मजवानुवृत्त्या ।

कोशः—'लक्ष्यं लक्षं शरव्यं च ।' इत्यमरः ।

भावार्थः—मार्गमध्ये शत्रुवाणछिन्ना अपि करतलगतधनुषो वीराणां शराः मध्ये न पेतुः, किन्तु अत्यन्तवेगवशेन अग्रफलावशिष्टैः भागैः स्वलक्ष्यं गत्वैवापतन् ।

भाषार्थ—शत्रुओं के द्वारा मार्ग के बीच में काटे जाने पर भी हाथ में धनुष धारण किये हुए वीरों के बाण मार्ग में न गिर कर अपने अत्यन्त वेग के कारण वे लक्ष्य तक पहुँच ही गये ॥ ४५ ॥

आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
हतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥

सञ्जीविनी—आधोरणेति । गजसंनिपाते गजयुद्धे निशितैरत एव क्षुराग्रैः क्षुरस्याग्रमिवाग्रं येषां तैश्चक्रैरायुधविशेषैर्हृतानि छिन्नान्यपि । श्येनानां पक्षिविशेषाणाम् । 'पक्षी श्येनः' इत्यमरः । नखाग्रकोटिषु व्यासक्ताः केशा येषां तानि । आधोरणानां हस्त्यारोहाणाम् । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । शिरांसि चिरेण पेतुः पतितानि । शिरःपातात्प्रागेवारुह्य पश्चादुत्पततां पक्षिणां नखेषु केशसङ्गश्चिरपातहेतुरिति भावः ।

अन्वयः—गजसन्निपाते निशितैः, क्षुराग्रैः चक्रैः हृतानि अपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि आधोरणानां शिरांसि चिरेण पेतुः।

वाच्य०—गजसन्निपाते निशितैः क्षुराग्रैः चक्रैः हृतैः, श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशैः आधोरणानां शिरोभिः चिरेण पेते।

चन्द्रिका—गजसन्निपाते=हस्तियुद्धे, निशितैः=तीक्ष्णैः, क्षुराग्रैः=क्षुराग्रभागैः, चक्रैः=आयुधविशेषैः, हृतानि=छिन्नानि, श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि=श्येननखाग्रसंसक्तकचानि, आधोरणानां=हस्तिपकानां, शिरांसि, चिरेण=चिरकालतया, पेतुः=अपतन्।

समासः—गजानां सन्निपातो गजसन्निपातस्तस्मिन् गजसन्निपाते, श्येनानां नखाग्राणि श्येननखाग्राणि श्येननखाग्राणां कोटिः श्येननखाग्रकोटिः, तत्र व्यासक्तानि केशानि येषां तानि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि।

कोशः—'निशितः क्ष्णुतः शातानि तेजिते' 'चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः।

भावार्थः—गजयुद्धे तीक्ष्णक्षुराग्रभागैः चक्रैश्च छिन्नानि हस्तिपकानां शिरांसि पातात्प्रागेवारुह्य श्येनैः खे तन्नीतत्वोड्डयनकारेण पृथिव्यां चिरेणापतन्।

भाषार्थ—हाथियों के युद्ध में तीक्ष्ण शस्त्रों एवं चक्रों से काटे गए पीलवानों के शिर ऊपर-ऊपर बाजों के द्वारा उठा कर ले जाने के कारण बहुत देर से पृथ्वी पर गिरे॥ ४६॥

पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकांक्ष॥ ४७॥

सञ्जीविनी—पूर्वमिति। पूर्वं प्रथमं प्रहर्ताऽश्वसादी तौरङ्गिकः प्रतिप्रहारेऽक्षममशक्तं तुरङ्गमस्कन्धे निषण्णदेहम्। मूर्च्छितमित्यर्थः। रिपुं भूयो न जघान पुनर्न प्रजहार। किंतु प्रत्याश्वसन्तं पुनरुज्जीवन्तमाचकाङ्क्ष। 'नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधादिति भावः।

अन्वयः—पूर्वं प्रहर्ता अश्वसादी प्रतिप्रहाराक्षमं तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं रिपुं भूयः न जघान (किन्तु), प्रत्याश्वसन्तं रिपुम् आचकांक्ष।

वाच्य०—पूर्वं प्रहर्त्राश्वसादिना प्रतिप्रहाराक्षमः तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं रिपुः भूयो न जघ्ने किंतु प्रत्याश्वसन् एव आचकांक्षे।

चन्द्रिका—पूर्वं = प्रथमं, प्रहर्त्ता = प्रहारकः, अश्वसादी = अश्वारोहः, प्रतिप्रहाराक्षमं = प्रहारकरणेऽसमर्थं, तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहः = तुरङ्गोपरि-मूर्च्छितं, रिपुं = शत्रुं, भूयः = पुनरपि, न जघान = न प्रहृतवान्, किंतु प्रत्याश्वसन्तं = पुनरुज्जीवन्तं, रिपुं = शत्रुं, आचकांक्ष = चकमे ।

समासः--प्रहारं प्रतीति प्रतिप्रहारं तस्मिन् अक्षमस्तं प्रतिप्रहाराक्षमम्, तुरङ्गमस्य स्कन्धः तुरङ्गमस्कन्धः तस्मिन् निषण्णदेहो यस्य सः तं तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहम् ।

कोशः--'पूर्वं पौरस्त्यप्रथमाद्या' 'रिपौ वैरिसपत्नारि-द्विषद्-द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः ।

भावार्थः--तस्मिन् युद्धे पूर्वं प्रहारकर्त्ता प्रहारकर्त्तुमशक्ये मूर्च्छिते शत्रौ पुनः शस्त्रप्रहारं नाकरोत् किन्तु तस्य पुनरुज्जीवनं यावत् प्रतीक्षमाणः स्थितवान् ।

भाषार्थ--उस युद्ध में प्रथम प्रहार करने वाले वीर ने, प्रहार में असमर्थ तथा घोड़े पर मूर्च्छित, अपने प्रतिद्वन्द्वी शत्रु के ऊपर पुनः शस्त्र का प्रयोग नहीं किया, किन्तु उसके पुनः उज्जीवन की प्रतीक्षा करता हुआ स्थित रहा ॥ ४७ ॥

तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥४८॥

सञ्जीविनी–तनुत्यजेति । तनुत्यजाम् । तनुषु निःस्पृहाणामित्यर्थः । वर्मभृतां कवचिनां संबन्धिभिर्बृहत्सु पृथुलेषु, दन्तेषु पतद्भिरत एव विकोशैः पिधानादुद्धृतैः 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने' इत्यमरः । असिभिः खड्गैरुद्यन्तमुत्थितमग्निं विविग्ना भीता गजाः करशीकरेण शुण्डादण्डजलकणेन शमयांबभूवुः शान्तं चक्रुः ।

अन्वयः--तनुत्यजां वर्मभृतां 'सम्बन्धिभिः' बृहत्सु दन्तेषु पतदिभः विकोशैः असिभिः उद्यन्तम् अग्निं विविग्नाः गजाः करशीकरेण शमयांबभूवुः ।

वाच्य०--तनुत्यजां वर्मभृतां बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिः विकोशैः असिभिः उद्यतः अग्निः विविग्नैः गजैः करशीकरेण शमयांबभूविरे ।

चन्द्रिका--तनुत्यजां = तनुत्यागिनां, वर्मभृतां = कवचधारिणां, बृहत्सु

=पृथुलेषु, दन्तेषु, पतद्भिः, विकोशैः = कोशादुद्धृतैः, असिभिः = खड्गैः, उद्यन्तं = उत्थितं, अग्निं = पावकं, विविग्नाः = भीताः, गजाः = हस्तिनः, करशीकरेण = शुण्डो द्धृतजलकणेन, शमयांबभूवुः = शान्तं चक्रुः ।

समासः—तनुं त्यजन्तीति तनुत्यजस्तेषां त नुत्यजां, वर्म बिभ्रतीति वर्मभृतस्तेषां वर्मभृतां, करस्य शीकरः करशीकरस्तेन करशीकरेण ।

कोशः—'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने' 'चन्द्रहासासिरिष्टयः' 'मतङ्गजो गजो नागः' इत्यमरः ।

भावार्थः—देहासक्तिविहीनानां कवचधारिणां योद्धानां बृहत्सु द्विरददन्तेषु पतद्भिः खड्गैः समुद्यन्तं अग्निं भीता गजाः स्वशुण्डाजलेन निर्वापयामासुः ।

भाषार्थ—शरीर के प्रति आसक्ति छोड़कर युद्ध में लड़ने वाले कवचधारी योद्धाओं के कोश से निकाली गयी तलवारों के चोट से हाथियों के मोटे-मोटे दाँतों से अग्नि उत्पन्न हो रही थी, जिसे भयभीत हाथियों ने अपने सूँड़ के जलकणों से शान्त किया ॥४८॥

शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥४९॥

संजीविनी—शिलीमुखेति । शिलीमुखैर्बाणैरुत्कृत्तानि शिरांस्येव फलानि प्रसवानि तैराढ्या संपन्ना । च्युतैर्भ्रष्टैः, शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि शीर्षण्यानि । 'शीर्षण्यं च शिरस्त्रे च' इत्यमरः । तैश्चषकोत्तरा चषकः पानपात्रमुत्तरं यस्याः सेव । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । शोणितान्येव मद्यं तस्य कुल्याः प्रवाहा यस्यां सा 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । रणक्षितिर्युद्धभूमिर्मृत्योः पानभूमिरिव रराज ।

अन्वयः—शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैः चषकोत्तरा इव शोणितमद्यकुल्या रणक्षितिः मृत्योः पानभूमिः इव रराज ।

वाच्य०—शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्यया च्युतैः शिरस्त्रैः चषकोत्तरया इव शोणितमद्यकुल्यया रणक्षित्या मृत्योः पानभूम्या इव रेजे (भा. वा.) ।

चन्द्रिका—शिलीमुखोत्कृत्तशिरः, फलाढ्या = बाणोच्छिन्नशिरःसंपन्ना, च्युतैः = पतितैः, शिरस्त्रैः = शीर्षण्यैः, चषकोत्तरा = पानपात्रयुक्ता, शोणित-

मद्यकुल्या = रक्तमद्यप्रवाहा, रणक्षितिः = युद्धभूमिः, मृत्योः = अन्तकस्य, पानभूमिः = पानस्थानम् इव, रराज = शुशुभे ।

समासः--शिलीमुखैः उत्कृत्तानि शिरांसि एव फलानि तैः आढ्याः शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या, चषकमुत्तरं यस्यां सा चषकोत्तराः, शोणितम् एव मद्यं शोणितमद्यं तस्य कुल्या शोणितमद्यकुल्या, रणस्य क्षितिः रणक्षितिः ।

कोशः--'शीर्षण्यं च शिरस्त्रे च' 'चषकोऽस्त्री पानपात्रं' 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः ।

भावार्थः--रणक्षितिः मृत्योः पानभूमिरिव रराज, तत्र शिरोच्छिन्नशिरांसि फलानीव, शीर्षण्यानि पानपात्राणीव शोणितप्रवाहश्च, मद्यकुल्या इवाभवत् ।

भाषार्थ--उस समय सारा युद्ध स्थल मृत्यु की पानभूमि की तरह ज्ञात होता था, जिसमें बाणों से काटे गये शिर, फलों के समान तथा वीरों के गिरे हुए शीर्षण्य पानपात्र के समान एवं शोणित प्रवाह मद्यकुल्या के समान ज्ञात हो रहा था ।। ४९ ।।

उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ।। ५० ।।

सञ्जीविनी-उपान्तयोरिति । उपान्तयोः प्रान्तयोर्विहगैः पक्षिभिर्निष्कुषितं खण्डितम् । 'इण्निष्ठायाम्' इति इडागमः, भुजच्छेदं भुजखण्डं तेभ्यो विहगेभ्यः आक्षिप्याच्छिद्य पिशितप्रिया मांसप्रियापि शिवा क्रोष्ट्री । 'शिवः कीलः शिवा क्रोष्ट्री' इति विश्वः । केयूरकोटचाङ्गदाग्रेण क्षतस्तालुदेशो यस्याः सा सती । अपाचकारापसारयामास । किरतेः करोतेर्वा लिट् ।

अन्वयः--उपान्तयोः विहङ्गैः निष्कुषितं, भुजच्छेदं तेभ्यः आक्षिप्य पिशितप्रिया अपि शिवा केयूरकोटिक्षततालुदेशा सती अपाचकार ।

वाच्य०-उपान्तयोः विहङ्गैः निष्कुषितः भुजच्छेदः तेभ्यः आक्षिप्य पिशितप्रियया अपि शिवया केयूरकोटिक्षततालुदेशया अपाचक्रे ।

चन्द्रिका—उपान्तयोः = प्रान्तभागयोः, विहङ्गैः = पक्षिभिः, निष्कुषितं = विखण्डितं, भुजच्छेदं = बाहुखण्डं, तेभ्यः = पक्षिभ्यः, आक्षिप्य = आच्छिद्य, पिशितप्रिया = मांसप्रिया = अपि, शिवा = क्रोष्ट्री, केयूरकोटिक्षततालुदेशा = केयूराग्रविक्षततालुस्थानं, अपाचकार = अपसारितवती ।

समासः—भुजस्य छेदं भुजच्छेदं, पिशितं प्रियं यस्याः सा पिशितप्रिया-

केयूरस्य कोटिः केयूरकोटिस्तया विक्षतस्तालुदेशो यस्या सा केयूरकोटिक्षत-तालुदेशा।

कोशः—'शिवः कीलः शिवा क्रोष्ट्री' 'केयूराङ्गदं तुल्यम्' इत्यमरः।

भावार्थः—प्रान्तभागेयोः पक्षिभिः खण्डितं भुजखण्डं मांसप्रियशिवा तेभ्यः तदाच्छिद्य, केयूराग्रेण तालुस्थानैर्विक्षतापि, तद्भुजखण्डं रणस्थान-दपसारयामास।

भाषार्थ—दोनों किनारों पर पक्षियों द्वारा खोदे गये, हाथ के टुकड़े को मांसप्रिय श्रृगालिन उनसे छीनकर केयूर के अग्रभाग से तालुस्थान के विक्षत हो जाने पर भी उसे रणस्थल से दूर ले गयी ॥५०॥

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कवन्धं समरे ददर्श ॥ ५१ ॥

सञ्जीविनी—कश्चिदिति। द्विषतः खड्गेन हृतोत्तमाङ्गश्छिन्नशिराः। 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमरः। कश्चिद्वीरः सद्यो विमानप्रभुतां विमानाधिपत्यम्। देवत्वमित्यर्थः। उपेत्य प्राप्य, वामाङ्गसंसक्ता सव्योत्सङ्गसङ्गिनी सुराङ्गना यस्य स तथोक्तः सन्। 'अग्निपुराणे—वरोप्सरः सहस्राणि भूपमायोधने हतम्। त्वरितान्युपधावन्ति मम भर्यायमेति च॥ इति'। समरे नृत्यत्स्वं निजं कवन्धं विशिरस्कं कलेवरं ददर्श। 'कवन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम' इत्यमरः।

अन्वयः—द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः कश्चित् वीरः सद्यः विमानप्रभुताम् उपेत्य वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः सन् समरे नृत्यत् स्वं कवन्धं ददर्श।

वाच्य—द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गेन केनचित् विमानप्रभुतां उपेत्य वामाङ्गसं सक्तसुराङ्गनेन समरे नृत्यत् स्वं कवधो ददृशे।

चन्द्रिका—द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः=शत्रुखड्गछिन्नशिरः, कश्चित्=वीरः, सद्यः विमानप्रभुतां=अमरत्वं, उपेत्य=प्राप्य, वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः=वामाङ्गाप्सरोयुक्तः, सन्, युद्धेस्वं=स्वकीयं, कवन्धं=विशि रस्कं कलेवरं, ददर्श=अपश्यत।

समासः—द्विषतः खड्गः द्विषत्खड्गस्तेन हृतम् उत्तमाङ्गं यस्य स द्विषत्खड्गहृतोत्रमाङ्गः, विमानस्य प्रभुतां विमानप्रभुता तां विमानप्रभुतां, वामाङ्गे

संसक्ता सुराङ्गना यस्य सः, तम्, यद्वा—वामाङ्गः संसक्तसुराङ्गनः—वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः ।

कोशः—'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं' 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपनूर्ध्वकलेवरं' इत्यमरः ।

भावार्थः—शत्रुखड्गेनाहृतशिराः कश्चित् देवत्वमुपेत्य वामाङ्गे अप्सरोयुक्तः समरे नृत्यत् स्वं शिरोहीनं शरीरं ददर्श ।

भावार्थ—शत्रु के खड्ग से काटे गये शिर वाले किसी वीर ने तत्क्षण ही देवत्व को प्राप्त कर, अपने वाम भाग में अप्सरा को लेकर युद्ध में नाचते हुए शिर विहीन अपने शरीर को देखा ॥ ५१ ॥

अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
व्यश्वौ गदाव्यायतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥५२॥

सञ्जीविनी—अन्योन्येति । कौचिद्वीरावन्योन्यस्य सूतयोः सारथ्योरुन्मथनान्निधनात्तावेव सूतौ रथिनौ योद्धारौ चाभूताम् । तावेव व्यश्वौ नष्टाश्वौ सन्तौ गदाभ्यां व्यायतो दीर्घः संप्रहारो युद्धं ययोस्तावभूताम् । ततो भग्नायुधौ भग्नगदौ सन्तौ बाहुविमर्दे निष्ठा नाशो ययोस्तौ बाहुयुद्धसक्तावभूताम् । 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः' इत्यमरः ।

अन्वयः—कौचित् (वीरौ) अन्योन्यसूतोन्मथनात् तौ एव सूतौ रथिनौ च अभूतां तावेव व्यश्वौ सन्तौ गदाव्यायतसंप्रहारौ अभूतां, भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ च (अभूताम्) ।

वाच्य०—काभ्यांचित्, अन्योन्यसूतोन्मथनात्, ताभ्यामेव सूताभ्यां रथिभ्यां च बभूवे (भा० वा०), व्यश्वाभ्यां ताभ्यां, गदाव्यायतसंप्रहाराभ्यां बभूवे, पुनः भग्नायुधाभ्यां बाहुविमर्दनिष्ठाभ्यां च बभूवे (भा० वा०) ।

चन्द्रिका—कौचित् = वीरौ, अन्योन्यसूतोन्मथनात = परस्परसारथ्योरुन्मथनात्, सूतौ = रथसंचालकौ, रथिनौ = योद्धारौ च अभूतां, व्यश्वौ = अश्वहीनौ, तावेव, गदाव्यायतसंप्रहारौ = गदादीर्घयुद्धौ, (अभूतां) भग्नायुधौ = नष्टगदौ सन्तौ, बाहुविमर्दनिष्ठौ = बाहुयुद्धासक्तौ च अभूताम् ।

समासः—अन्योन्यस्य सूतौ अन्योन्यसूतौ तयोरुन्मथनम् अन्योन्यसूतोन्मथनं तस्मात् अन्योन्यसूतोन्मथनात् । रथौ स्तः अनयोः इति रथिनौ । विगतौ

अश्वौ ययोस्तौ व्यश्वौ गदाभ्यां व्यायतः प्रहारो ययोस्तौ गदाव्यायतसंप्रहारौ। भग्नौ आयुधौ ययोस्तौ भग्नायुधौ। बाहुभ्यां विमर्द्दः ,बाहुविमर्दस्तया निष्ठा ययोस्तौ बाहुविमर्द्दनिष्ठ।

कोशः—'सूतः क्षत्ता च सारथिः' 'रथिनः स्यन्दनारोहाः अश्वारोहास्तु सादिनः', 'निष्ठा-निष्पत्तिनाशान्त' इत्यमरः।

भावार्थः--कौचित् वीरौ परस्परसूतहननकारणेन, सूतौ योद्धारौ च अभूतां, पुनश्च अश्वहीनौ सतौ गदायुद्धसंलग्नौ अभूतां, गदाहीनौ सतौ बाहुयुद्ध-प्रवृत्तौ च अभूताम्।

भाषार्थ--कोई वीर एक दूसरे के सारथी को नष्ट कर स्वयं सारथी एवं अश्वारोही फिर अश्वों के नष्ट हो जाने पर गदायुद्ध में प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार गदा के नष्ट हो जाने पर परस्पर बाहुयुद्ध में प्रवृत्त हुए ॥५२॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥५३॥

सञ्जीविनी—परस्परेणेति। परस्परेणान्योन्यं क्षतयोः क्षततन्वोः समकालमेककालं यथा तथोत्क्रान्तवाय्वोर्युगपदुद्गतप्राणयोः। एकैवाप्सराः प्रार्थिता याभ्यां तयोरेकाप्सरः प्रार्थितयोः। प्रार्थितैकाप्सरसोरित्यर्थः। 'वाहिताग्न्यादिषु' इति परनिपातः। अथवा—एकस्यामप्सरसि प्रार्थितं प्रार्थना ययोरिति विग्रहः। 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इति बहुत्वाभिधानं प्रायिकम्। कयोश्चित्प्रहर्त्रोर्योधयोरमर्त्यभावेऽपि देवत्वेऽपि विवादः कलह आसीत्। एकामिषाभिलाषो हि महद्वैरबीजमिति भावः।

अन्वयः—परस्परेण क्षतयोः समकालमेव, यथा स्यात्तथा, उत्क्रान्तवाय्वोः एकाप्सरःप्रार्थितयोः कयोश्चित् प्रहर्त्रोः अमर्त्यभावेऽपि विवादः आसीत्।

वाच्य०—परस्परेण क्षतयोः समकालम् एव उत्क्रान्तवाय्वोः एकाप्सर-प्रार्थितयोः कयोश्चित् प्रहर्त्रोः अमर्त्यभावेऽपि, विवादेन बभूवे (भा० वा०)।

चन्द्रिका—परस्परेण=अन्योन्येन, क्षतयोः=आहतयोः, समकालं=एककालम्, उत्क्रान्तवाय्वोः=निर्गतप्राणयोः, एकाप्सरःप्रार्थितयोः=एकाप्सर-प्रार्थ्यमानयोः, कयोश्चित् प्रहर्त्रोः=युद्धमानयोः, अमर्त्यभावेऽपि=देवत्वेऽपि, विवादः=कलहः, आसीत्=अभूत्।

समासः—उत्क्रान्तो वायुः ययोस्तौ उत्क्रान्तवाय्वोः, एकस्यामप्सरसि

प्रार्थितं ययोस्तौ तयोः एकाप्सरप्रार्थितयोः, न मर्त्यः अमर्त्यस्तस्य भावः अमर्त्यभावस्तस्मिन् अमर्त्यभावेऽपि ।

कोशः--'अमर्त्या अमृतान्धसः' 'विवादो व्यवहारः स्यात्' इत्यमरः ।

भावार्थः--परस्परप्रहारकारणेन द्वन्द्वं युध्यमानयोः, कयोश्चित् वीरयोः समकाले प्राणोत्क्रमणेन, देवत्वप्राप्तयोरपि तयोः एकाप्सरसि प्रार्थनाकारणेन कलहः संजातः ।

भाषार्थ--एकदूसरे पर प्रहार करने के कारण द्वन्द्व युद्ध में किन्हीं दो योद्धाओं के एकसाथ प्राण निकल जाने के उपरान्त देवत्व प्राप्ति के अनन्तर भी एक अप्सरा की प्राप्ति के लिये पुनः दोनों का युद्ध स्वर्ग में होने लगा॥१३॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद् भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरो मारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥ १४ ॥

सञ्जीविनी-व्यूहाविति । तावुभौ व्यूहौ सेनासंघातौ ।'व्यूहस्तु बलविन्यासः' इत्यमरः । पश्चात्पुरश्च यौ मारुतौ, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते, तयोः पर्यायवृत्त्या क्रमवृत्त्या प्रवृद्धौ महान्तावर्णवोर्मी इव । इतरेतरस्मादन्योन्यस्मादव्यवस्थं व्यवस्थारहितमनित्यं जयं भङ्गं पराजयं चापतुः प्राप्तवन्तौ ।

अन्वयः—तौ उभौ व्यूहौ पश्चात् पुरो मारुतयोः पर्यायवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मी इव, इतरेतरस्मात् अव्यवस्थं जयं भङ्गं च आपतुः ।

वाच्य०—ताभ्यामुभाभ्यां व्यूहाभ्यां पश्चात् पुरो मारुतयोः पर्यायवृत्त्या प्रवृद्धाभ्यां महार्णवोर्मीभ्याम् इव इतरेतरस्माद् भङ्गो जयश्च प्रापेते ।

चन्द्रिका--तौ = उभौ, व्यूहौ = सेनासंघातौ, पश्चात् पुरो मारुतयोः = पश्चिमपूर्ववाय्वोः, पर्यायवृत्त्या = पर्यायक्रमेण, प्रवृद्धौ = वृद्धिं गतौ, महार्णवोर्मी = समुद्रोर्मी इव, इतरेतस्मात् = परस्परम्, अव्यवस्थम् = अनित्यं, भङ्गं = पराजयं, जयं = विजयं च, आपतुः = प्रापतुः ।

समासः--महार्णवस्योर्मी महार्णवोर्मी, नास्ति व्यवस्था यस्मिंस्तत् अव्यवस्थम् (क्रियाविशेषणम्) ।

कोशः--'समूहो निवहव्यूह', 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा' इत्यमरः ।

भावार्थः--तावुभौ सैन्यौ पश्चात्पुरो मारुतयोः प्रवृद्धौ समुद्रोर्मी इव पर्यायक्रमेण अनित्यं पराजयं जयं च इतरेतरस्मात् आपतुः ।

भाषार्थ--वे दोनों सेनाएँ एक-दूसरे से क्रमशः विजय एवं पराजय को अव्यवस्थित रूप से इस प्रकार प्राप्त करती रहीं, जिस प्रकार पूर्व एवं पश्चिमी की हवा चलने से समुद्र में कभी-कभी पूर्वी एवं कभी पश्चिमी तरंग उठती एवं विनष्ट होती है ॥ ५४ ॥

परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥ ५५ ॥

सञ्जीविनी--परेणेति । बले स्वसैन्ये परेण परबलेन भग्नेऽपि महौजा महाबलोऽजोऽरिसैन्यं प्रत्येव ययौ । तथा हि–समीरणेन वायुना धूमो निवर्त्येत कक्षादपसार्येत । वर्ततेर्ण्यन्तात्कर्मणि संभावनायां लिङ् । वह्निस्तु यतो यत्र कक्षस्तृणम् । 'कक्षौ तु तृण्वीरुधौ' इत्यमरः । तत एव तत्रैव । प्रवर्तत इति शेषः । सार्वविभक्तिकस्तसिः ।

अन्वयः—बले परेण भग्नेऽपि महौजाः अजः अरिसैन्यं प्रत्येव ययौ, हि समीरणेन धूमः निवर्त्येत वह्निस्तु यतः कक्षः ततः एव ।

वाच्य०--परेण बले भग्नेऽपि महौजसा अजेन प्रत्यरिसैन्यम् एव जये धूमे समीरणेन निवर्त्येत, वह्निस्तु यतः कक्षस्तत एव प्रवर्त्येत ।

चन्द्रिका--परेण = परसैन्येन, बले = स्वसैन्ये, भग्नेऽपि = विनष्टेऽपि, महौजाः = महाबलः, अजः, प्रत्यरिसैन्यं, अरेः सैन्यं प्रतीति प्रत्यरिसैन्यं = शत्रु-सैन्यम्, अभिलक्षीकृत्य, ययौ = अगच्छत्, तथा हि । समीरणेन = वायुना, धूमः, निवर्त्येत = परावर्त्येत, वह्निः = अग्निस्तु, यतः कक्षः तत एव ।

समासः--महान् ओजो यस्य स महौजा, अरेः सैन्यम् अरिसैन्यं, अरिसैन्यं प्रतीति प्रत्यरिसैन्यम् ।

कोशः--'समीर-मारुत-मरुज्जगत्प्राण-समीरणाः' 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः' इत्यमरः ।

भावार्थः—शत्रुसैन्येन स्वसैन्ये विनष्टेऽपि अजः शत्रुसैन्यं प्रत्येव तथा ययौ यथा समीरणेन धूमे विनिवर्त्तितेऽपि यतस्तृणं भवति अग्निस्तत एव प्रवर्तते ।

भाषार्थ--शत्रुके द्वारा अपने सेनाके विनष्ट होने पर भी अज शत्रु की सेना की ओर इस प्रकार बढ़ते गये, जिस प्रकार वायुके द्वारा धूम के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी अग्नि उधर ही जाती है जिधर इन्धन होता है ॥५५॥

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः॥५६॥

सञ्जीविनी--रथीति। रथी रथारूढो निषङ्गी तूणीरवान्। 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः। कवची वर्मधरः धनुष्मान् धनुर्धरो दृप्तो रणदृप्तः एकवीरोऽसहायशूरः सोऽजो राजन्यकं राजसमूहम् "गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ्" इत्यनेन वुञ्प्रत्ययः। महावराहो वराहावतारो विष्णुः, कल्पक्षये कल्पान्तकाले उद्वृत्तमुद्वेलमर्णवाम्भ इव निवारयामास।

अन्वयः--रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान् दृप्तः एकवीरः सः राजन्यकं महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तम् अर्णवाम्भः इव निवारयामास।

वाच्य०--रथिना निषङ्गिणा कवचिना धनुष्मता दृप्तेन एकवीरेण तेन राजन्यकं महावराहेण कल्पक्षयोद्वृत्तम् अर्णवाम्भ इव निवारयांचक्रे।

चन्द्रिका-रथी = रथयुक्तः, निषङ्गी = तूणीरवान्, कवची = वर्मधरः, धनुष्मान् = धनुर्धारी, दृप्तः = रणदीप्तः, एकवीरः = असहायशूरः, स = अजः, राजन्यकं = राजसमूहं, महावराहः = वराहावतारधरो विष्णुः इव, कल्पक्षयोद्वृत्तम् = कल्पान्तकाले उद्वृत्तं, अर्णवाम्भः = समुद्रजलम् इव, निवारयामास = विनाशितवानित्यर्थः।

समासः--रथोऽस्यास्तीति रथी। निषङ्गोऽस्यास्तीति निषङ्गी। कवचोऽस्यास्तीति कवची। धनुरस्यास्तीति धनुष्मान्, एकश्चासौ वीरश्च एकवीरः। राज्ञां समूहं राजन्यकम्। महांश्चासौ वराहश्च महावराहः। कल्पक्षये उद्वृत्तं कल्पक्षयोद्वृत्तम्। अर्णवस्य अम्भः अर्णवाम्भः।

1535

कोशः--'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' 'उरश्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्। "धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः" इत्यमरः।

भावार्थः--रथ-कवच-तूणीरधनुर्युक्तः अजः तेषां राजसमूहानां सैन्यानि वराहावतारे विष्णु इव कल्पान्तकाले प्रवृद्धवेलं समुद्रजलमिव निवारयामास॥

भाषार्थ-रथ, कवच, तूणीर एवं धनुष को धारण किये हुए वह अज शत्रुओं के सेना को इस प्रकार नष्ट कर दिया जिस प्रकार वराहावतार धारी विष्णु कल्पान्तकाल में महातरंगित समुद्र जल को विनष्ट करते हैं॥५६॥

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन् हस्तमलक्ष्यताजौ ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥५७॥

सञ्जीविनी–स इति । सोऽजः आजौ सङ्ग्रामे दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन निषङ्गविवरेण वाममतिसुन्दरम् । 'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः । व्यापारयन्नलक्षयत । शरसन्धानादयस्तु दुर्लक्ष्या इत्यर्थः । सकृदाकर्णकृष्टा योद्धुरस्याजस्य मौर्वी ज्या । रिपून् घ्नन्तीति रिपुघ्नाः, तान् । "अमनुष्यकर्तृके च" इति ठक्प्रत्ययः । बाणान्सुषुव इव सुषुवे किमु इत्युत्प्रेक्षा ।

अन्वयः–सः आजौ दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन वामं व्यापारयन् अलक्ष्यत सकृद् आकर्णकृष्टा योद्धुः अस्य मौर्वी रिपुघ्नान् बाणान् सुषुवे इव ।

वाच्य०–तेन दक्षिणो हस्तः तूणमुखेन वामं व्यापारयता अलक्ष्यत सकृदाकर्णकृष्टया योद्धुः अस्य मौर्व्या रिपुघ्ना बाणाः सुषुविरे इव ।

चन्द्रिका–सः=अजः आजौ=युद्धे, दक्षिणं हस्तं=करं, तूणमुखेन=निषङ्गविवरेण, वामं=अतिसुन्दरं, व्यापारयन्=शरसन्धानं कुर्वन्, अलक्ष्यत=ददृशे, सकृत्=एकवारं, आकर्णकृष्टा=कर्णपर्यन्तं विस्फारिता, अस्य योद्धुः=अजस्य मौर्वी=ज्या, रिपुघ्नान्=शत्रुनाशकान्, बाणान् = शरान्, सुषुवे इव = अजनयदिव ।

समासः–तूणस्य मुखं तूणमुखं तेन तूणमुखेन, कर्णमभिव्याप्येति आकर्णम्, आकर्णं कृष्यते इति आकर्णकृष्टा, रिपून् घ्नन्तीति रिपुघ्नास्तान् रिपुघ्नान् ।

कोशः–'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' 'पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मग-खगाशुगाः' इत्यमरः ।

भावार्थः–युद्धे तूणीरात् दक्षिणहस्तेन शरं संदधानोऽजः अतिसुन्दरम् अलक्ष्यत । एकवारं कर्णपर्यन्तमाकृष्यमाणा अजस्य मौर्वी शत्रुनाशकराननेकान् शरान् अजनयदिव ।

भाषार्थ–युद्ध में अपने दाहिने हाथ से निषङ्ग से निकाले गये बाण को सन्धान करता हुआ वह अज अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ता था । एक बार कर्ण पर्यन्त खींची गयी इसके धनुष की प्रत्यञ्चा, शत्रुओं का नाश करने वाले अनेक बाणों को सृजन करती थी ॥ ५७ ॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः ।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ ५८ ॥

सञ्जीविनी--स इति। सोऽजः। रोषेण दष्टा अत एवाधिकलोहिता ओष्ठा येषां तानि तैः। व्यक्ता ऊर्ध्वा रेखा यासां ता भ्रुकुटीर्भ्रूभङ्गान्वहद्भिः। भल्लनिकृत्ता बाणविशेषच्छिन्नाः कण्ठा येषां तैः। हुंकारगर्भैः सहुंकारैः। हुकुर्वद्भिरित्यर्थः। द्विषतां शिरोभिर्गां भूमित स्तार छादयामास।

अन्वयः--सः रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैः व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीः वहद्भिः भल्लनिकृत्तकण्ठैः हुङ्कारगर्भैः द्विषतां शिरोभिः गां तस्तार।

वाच्य--तेन रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैः व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटी वहद्भिः भल्लनिकृत्तकण्ठैः हुङ्कारगर्भैः द्विषतां शिरोभिः गौः तस्तरे।

चन्द्रिका--सः = अजः, रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठै = कोप फुरितरक्तवर्णोष्ठैः, व्यक्तोर्ध्वरेखा = प्रकटितोर्ध्वरेखा, भ्रुकुटी=भ्रूभङ्गान्, वहद्भिः = धारयद्भिः, भल्लनिकृत्तकण्ठैः = भल्लछिन्नकण्ठैः, हुंकारगर्भैः = सहुङ्कारैः, द्विषतां = शत्रूणां, शिरोभिः = मस्तकैः, गां = भुवं, तस्तार = छादयामास।

समासः--रोषेण दष्टा अत एव अधिका लोहिता ओष्ठा येषां तानि, तैः रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैः, व्यक्ता ऊर्ध्वं रेखा यासां ताः व्यक्तोर्ध्वरेखा, भल्लैः निकृत्ता भल्लनिकृत्ता, भल्लनिकृत्ता कण्ठा येषां ते भल्लनिकृत्तकण्ठास्तैः भल्लनिकृत्तकण्ठैः, हुङ्कारो गर्भः येषां तानि, तैः हुङ्कारगर्भैः।

कोशः--'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ' 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां' 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं' इत्यमरः।

भावार्थः--अजः कोपस्फुरितारुणोष्ठैः, प्रकटितोर्ध्वरेखा भ्रूभङ्गान् वहद्भिः भल्लनिकृत्तकण्ठैः शत्रूणां शिरोभिः भुवमाच्छादयामास।

भाषार्थ--उस अज ने शत्रुओं के शिर को भाले से काटकर पृथ्वी को ढक दिया। उन शिरों में लगे हुए शत्रुओं के ओठ कोप के स्फुरण होने के कारण रक्तवर्ण हो रहे थे और भ्रुकुटियों में रेखायें स्पष्टरूप से झलक रही थीं ॥५८॥

सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥

सञ्जीविनी—सर्वैरिति। द्विरदप्रधानैर्गजमुख्यैः सर्वैर्बलाङ्गैः सेनाङ्गैः। 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः। कङ्कटभेदिभिः कवच-भेदिभिः 'उरच्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सर्वायुधैश्च

बाह्यबलमुक्त्वान्तरमाह—सर्वप्रयत्नेन च सर्वे एव भूमिपाला युधि तस्मिन्नजे अजह्रुः। तं प्रजह्रुरित्यर्थः। सर्वत्र सर्वकारकशक्तिसंभवात्कर्मणोऽप्यधिकरणविवक्षायां सप्तमी। तदुक्तम्—'अनेकशक्तियुक्तस्य, विश्वस्यानेककर्मणः। सर्वदा सर्वथाभावात्क्वचित् किंचिद्विवक्ष्यते ॥' इति।

अन्वयः--द्विरदप्रधानैः सर्वैः बलाङ्गैः कङ्कटभेदिभिः सर्वायुधैः च सर्वप्रयत्नेन च सर्वे एव भूमिपालाः युधि तस्मिन् प्रजह्रुः।

वाच्य०—द्विरदप्रधानैः सर्वैः बलाङ्गैः कङ्कटभेदिभिः सर्वायुधैः च सर्वप्रयत्नेन च सर्वैः भूमिपालैः तस्मिन् प्रजह्ने।

चन्द्रिका--द्विरदप्रधानैः = हस्तिमुख्यैः, सर्वैः बलाङ्गैः = सेनाङ्गैः, कङ्कटभेदिभिः = कवचभेदिभिः, सर्वायुधैः = सर्वशास्त्रैः, सर्वप्रयत्नेन = सर्वोपायेन च, सर्वे एव भूमिपालाः = राजानः, तस्मिन् = अजे, प्रजह्रुः = अघ्नन्।

समासः--द्विरदाः प्रधाना येषु तानि तैः, कङ्कटान् भिन्दन्तीति कङ्कटभेदिनस्तैः कङ्कटभेदिभिः, सर्वाणि च तानि आयुधानि सर्वायुधानि तैः सर्वायुधैः, सर्वश्चासौ प्रयत्नः सर्वप्रयत्नः, तेन सर्वप्रयत्नेन।

कोशः--'उरच्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' 'आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रमथास्त्रियौ' इत्यमरः।

भावार्थः--हस्तिप्रधानैः सर्वैर्बलाङ्गैः कवचभेदिभिः सर्वशस्त्रैः सर्वप्रयत्नेन च सर्वे राजानः अजं प्रहृतवन्तः।

भाषार्थ-युद्ध में हस्ती प्रधान सभी सेनांगों से कवच भेदन करने वाले सभी शस्त्रों से और सभी उपायों से उन राजाओं ने अज पर प्रहार किया ॥५९॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥६०॥

सञ्जीविनी—सेति। परेषां द्विषामस्त्रव्रजैः शस्त्रसमुदायैश्छन्नरथः। नीहारैर्हिमैर्मग्नो दिनपूर्वभागः प्रातःकालः किंचित्प्रकाशेनेषल्लक्ष्येण विवस्वतेव आच्छादितरथः ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यो बभूव। ध्वजाग्रादन्यन्न किंचिल्लक्ष्यते स्मेत्यर्थः ॥ ६० ॥

अन्वयः--परेषां अस्त्रव्रजैः छन्नरथः सः नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वता इव ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यः बभूव।

वाच्य०--परेषाम् अस्त्रव्रजैः छन्नरथेन तेन नीहारमग्नौ दिनपूर्वभागेन किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्येण बभूवे ।

चन्द्रिका--परेषां=शत्रूणाम्, अस्त्रव्रजैः=शस्त्रसमूहैः, छन्नरथः=आच्छादितरथः, स अजः नीहारमग्नो=हिममग्नो, दिनपूर्वभागः=प्रातःकालः किञ्चित्प्रकाशेन=ईषत्प्रकाशेन, विवस्वता=सूर्येण इव, ध्वजाग्रमात्रेण=पताकाग्रमात्रेण, लक्ष्यः=दृश्यः, बभूव=अभवत् ।

समासः—अस्त्राणां व्रजा अस्त्रव्रजास्तै अस्त्रव्रजैः, छन्नः रथो यस्य सः छन्नरथः, नीहारैः मग्नः नीहारमग्नः दिनस्य पूर्वभागः दिनपूर्वभागः, ध्वजस्य अग्रं ध्वजा ग्रध्वजाग्रम् एव ध्वजाग्रमात्रेण ।

कोशः--'आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रमथास्त्रियौ' 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

भावार्थः--शत्रूणां शस्त्रसमूहैः आच्छादितरथः अजः ध्वजाग्रमात्रेण तथा लक्ष्या बभूव यथा नीहारमग्नो प्रातःकालः किञ्चित्प्रकाशेनं सूर्येण लक्ष्यो भवति ।

भाषार्थ--शत्रुओं के शस्त्र समूह से रथ के आच्छादित हो जाने के कारण वह अज केवल ध्वजा के दिखाई देने से इस प्रकार लक्षित होता था जिस प्रकार कुहासा पड़ने पर प्रातःकाल ईषत्प्रकाश वाले सूर्य से जाना जाता है ॥६०॥

प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः॥६१॥

सञ्जीविनी—प्रियंवदादिति । अधिराजसूनुर्महाराजपुत्रः कुसुमास्त्रकान्तो मदनसुन्दरः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः स्वप्नवितृष्णः । जागरूक इत्यर्थः । असौ कुमारोऽजः प्रियंवदात्पूर्वोक्ताद्गन्धर्वात्प्राप्तं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम् । "सास्य देवता" इत्यण् । प्रस्वापयतीति प्रस्वापनं निद्राजनकमस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त प्रयुक्तवान् ।

अन्वयः--अधिराजसूनुः कुसुमास्त्रकान्तः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः असौ कुमारः प्रियंवदात् प्राप्तं गान्धर्वं प्रस्वापनम् अस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त ।

वाच्य०--अधिराजसूनुना कुसुमास्त्रकान्तेन, स्वप्ननिवृत्तलौल्येन कुमारेण प्रियंवदात् प्राप्तं गान्धर्वं प्रस्वापनम् अस्त्रं राजसु प्रायोजि ।

चन्द्रिका--अधिराजसूनुः = महाराजपुत्रः, कुसुमास्त्रकान्तः = मदनसुन्दरः, स्वप्ननिवृत्तलौल्यः = स्वप्ननिवृत्ततृष्णः, असौ कुमारः = अजः, प्रियंवदात् = तन्नामकगन्धर्वात्, प्राप्तं गान्धर्वं = गन्धर्वदेवताकं, प्रस्वापनं = निद्राजनकं, अस्त्रं, राजसु = नृपेषु, प्रायुङ्क्त = प्रयुक्तवान् ।

समासः-राजसु अधिकः अधिराजः अधिराजस्य सूनुः अधिराजसूनुः, कुसुमं अस्त्रं यस्य सः कुसुमास्त्रः कुसुमास्त्र इव कान्तः कुसुमास्त्रकान्तः, स्वप्ने निवृत्तं लौल्यं यस्य सः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ।

कोशः--'कुसुमेषुरनन्यजः' 'आत्मजस्तनयः सूनुः' इत्यमरः ।

भावार्थः--मदनसुन्दरः सर्वथा जागरूकः महाराजपुत्रः अजोऽपि प्रियंवदगन्धर्वात्प्राप्तं निद्राजनकम् अस्त्रं राजसमूहेषु प्रयुक्तवान् ।

भाषार्थ--महाराज पुत्र मदन सुन्दर सर्वथा जागरूक अजने भी प्रियंवद-नामक गन्धर्वसे प्राप्त, सबको निद्रित करने वाले प्रस्वापन नामक अस्त्र का प्रयोग उन राजाओं पर किया ॥६१॥

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥६२॥

सञ्जीविनी-तत इति। ततो धनुष्कर्षणे चापकर्षणे मूढहस्तमव्यापृतहस्तम् । एकस्मिन्नंसे पर्यस्तं स्रस्तं शिरस्त्राणां शीर्षण्यानां जालं समूहो यस्य तत् । ध्वजस्तम्भेषु निषण्णा अवष्टब्धा देहा यस्य तत् । नरदेवानां राज्ञां सेनैव सैन्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । निद्राविधेयं निद्रापरतन्त्रं तस्थौ ।

अन्वयः--ततः धनुष्कर्षणमूढहस्तं, एकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालं ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं नरदेवसैन्यं निद्राविधेयं तस्थौ ।

वाच्य०--धनुष्कर्षणमूढहस्तेन एकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालेन ध्वजस्तंभनिषण्णदेहेन नरदेवसैन्येन निद्राविधेयेन तस्थौ ।

चन्द्रिका--धनुष्कर्षणमूढहस्तं = शरसंधानाशक्तं, एकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालं = एकस्कन्धश्लथितशीर्षण्यं, ध्वजस्तंभनिषण्णदेहं = ध्वजदण्डावलम्बनशरीरं, नरदेवसैन्यं = नृपसैन्यं, निद्राविधेयं = निद्रापरवशं, तस्थौ = स्थितम् ।

समासः--धनुषः कर्षणं धनुष्कर्षणं तत्र मूढो हस्तो यस्य तत् । एकश्चासौ

अंसश्च एकांसस्तत्र पर्यस्तं शिरस्त्रजालं यस्य तत् एकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालं, ध्वज एव स्तम्भः ध्वजस्तम्भस्तत्र निषण्णं देहं यस्य तत् ध्वजस्तंभ निषण्णदेहं, नर देवस्य सैन्यं नरदेवसैन्यं, निद्रायाः विधेयं निद्राविधेयम् ।

कोशः—'शीर्षण्यं च शिरस्त्रेऽथ' 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

भावार्थः—अजप्रस्वापनप्रयोगानन्तरं समस्तं नृपसैन्यं चापाकर्षणेऽशक्तं, एकस्कन्धस्थितशिरस्त्रसमूहं ध्वजदण्डेषु स्वशरीरस्थितिं विधाय निद्रावशं जगाम ।

भाषार्थ—अजके प्रस्वापन-प्रयोग के अनन्तर समस्त राजाओं की सेना शर-संधान में असमर्थ होकर अपने एक कन्धे पर शीर्षण्य को तथा ध्वज के डण्डे पर अपने शरीर को रख कर निद्रा के पर वश होकर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गई ।।६२।।

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवावभासे ।। ६३ ।।

सञ्जीविनी—तत इति । ततः कुमारोऽजः प्रिययेन्दुमत्योपात्तरस आस्वादितमाधुर्ये । अतिश्लाघ्य इति भावः । अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य 'जलजं शङ्खपद्मयोः' इति विश्वः । दध्मौ मुखमारुतेन पूरयामास । तेनौष्ठनिविष्टेन शंखेनैकवीरः स स्वहस्तार्जितं मूर्तं मूर्तिमद्यशः पिबन्निवावभासे यशसः शुभ्रत्वादिति भावः ।

अन्वयः—ततः कुमारः प्रियोपात्तरसे अधरोष्ठे जलजं निवेश्य दध्मौ, तेन एकवीरः सः स्वहस्तार्जितं मूर्त्तं यशः पिबन् इव आवभासे ।

वाच्य०—ततः कुमारेण प्रियोपात्तरसे अधरोष्ठे जलजं निवेश्य दध्मे, तेन एकवीरेण स्वहस्तार्जितं मूर्त्तं यशः पिबता इव आवभासे ।

चन्द्रिका—ततः = राजसमूहविजयानन्तरं, कुमारः = अजः, प्रियोपात्तरसे = प्रिययास्वादितमाधुर्येण, अधरोष्ठे, जलजं = शंखं, निवेश्य = निधाय, दध्मौ = आध्मातवान्, तेन = आध्मातशंखेन, एकवीरः = महावीरः, स्वहस्तार्जितं = स्वहस्तप्राप्तं, मूर्त्तं = मूर्तिमत्, यशः पिबन्निव, आवभासे = बभौ ।

समासः—प्रियया उपात्तो रसः यस्य सः, तस्मिन् प्रियोपात्तरसे, अधरश्चासावोष्ठश्च अधरोष्ठस्तस्मिन् अधरोष्ठे, स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ स्वहस्ताभ्यां अर्जितं स्वहस्तार्जितम् ।

कोशः—'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ' 'जलजं शंखपद्मयोः' 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः।

भावार्थः—ततः प्रिययास्वादितमाधुर्ये अधरोष्ठे शंखं निवेश्य अजः दध्मौ, तेन स्वहस्तार्जितं मूर्त्तिमत् यशः पिबन्निव स बभौ।

भाषार्थ—उस अजने, प्रिया के द्वारा माधुर्य का रसास्वादन किये जाने वाले अपने अधरोष्ठ पर शंख रख कर उसे बजाया, उससे वह अपने हाथ से अर्जित मूर्त्तिमान् यश का आस्वादन करता हुआ वह प्रतीत हो रहा था ॥६३॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥६४॥

सञ्जीविनी—शङ्खेति। शंखस्वनस्याजशङ्खध्वनेरभिज्ञतया प्रत्यभिज्ञातत्वान्निवृत्ताः प्राक्पलाय्य संप्रति प्रत्यागताः स्वयोधाः सन्नशत्रुं निद्राणशत्रुं तमजम्। निमीलितानां मुकुलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमा चासौ शशाङ्कश्च तं प्रतिमाशशाङ्कं प्रतिबिम्बचन्द्रमिव। ददृशुः।

अन्वयः—शंखस्वनाभिज्ञतया निवृत्ताः स्वयोधाः सन्नशत्रुं तं निमीलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कमिव ददृशुः।

वाच्य०—शंखस्वनाभिज्ञतया निवृत्तैः स्वयोधैः सन्नशत्रुः सः निमीलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन् प्रतिमाशशाङ्क इव ददृशे।

चन्द्रिका—शंखस्वनाभिज्ञतया = शंखस्वनप्रत्यभिज्ञानेन निवृत्ताः = प्रत्यागताः, स्वयोधाः = स्वपक्षयोद्धारः, सन्नशत्रुं = निद्रितारिं, तं = अजं, निमीलितानां = मुकुलितानां, पंकजानां = कमलानां, मध्ये, स्फुरन्तं = देदीप्यमानं, प्रतिमाशशाङ्कं = प्रतिबिम्बशशाङ्कम्, इव ददृशुः = अपश्यन्।

समासः—शंखस्य स्वनं शंखस्वनं तस्य भिज्ञा शंखस्वनाभिज्ञा तस्या भावस्तया शंखस्वनाभिज्ञतया, सन्नः शत्रुर्यस्य तं सन्नशत्रुं, प्रतिमा चासौ शशांकश्च प्रतिमाशशांकस्तं प्रतिमाशशांकम्।

कोशः—'जलजं शंखपद्मयोः' 'दस्यु-शात्रव-शत्रवः' इत्यमरः।

भावार्थः—अजशंखस्वनं परिज्ञाय प्राक्पलायिता अजयोद्धारः पुनः संनिवृत्य मुकलितकमलानां मध्ये देदीप्यमानं चन्द्रप्रतिबिम्बम् इव अजं ददृशुः।

भाषार्थ—अज के द्वारा बजाये गये शंख के शब्द को पहचान कर उसके

पक्षके भागे हुए वीर पुनः लौट आये, और उन्होंने मुकुलित कमल के बीच ददेदीप्यमान चन्द्रप्रतिविम्ब की तरह उसे देखा ॥ ६४ ॥

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥६५॥

सञ्जीविनी--सशोणितैरिति । संप्रति राघवेण रघुपुत्रेण । पूर्वं रघुणेति भावः । हे राजानः ! वो युष्माकं यशो हृतम्, जीवितं तु कृपया न हृतम् । न त्वशक्त्येति भावः । इत्येवंरूपा वर्णाः । एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थः । सशोणितैः शोणितदिग्धैः शिलीमुखाग्रैर्बाणाग्रैः साधनैस्तेनाजेन प्रयोजनकर्त्रा । पार्थिवानां राज्ञां केतुषु ध्वजस्तम्भेषु निक्षेपिताः प्रयोज्यैरन्यैर्निवेशिताः । लेखिता इत्यर्थः । क्षिपतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः ।

अन्वयः—संप्रति राघवेण 'हे राजानः' वः यशो हृतं जीवितं तु कृपया न हृतम् इति वर्णाः पार्थिवानां केतुषु सशोणितैः शिलीमुखाग्रैः निक्षेपिताः ।

वाच्य०-संप्रति राघवः वो यशः हृतवान्, जीवितं तु न हृतवान् इति वर्णान् स पार्थिवानां केतुषु सशोणितैः शिलीमुखाग्रैः पार्थिवानां केतुषु निक्षेपितवान् (कर्म० वा०) ।

चन्द्रिका—संप्रति, राघवेण = रघुपुत्रेण, वः = युष्माकं, यशः = कीर्त्तिः, हृतं, जीवितं = प्राणान् तु, कृपया = अनुकम्पया न हृतं, (इति) वर्णाः= अक्षराणि, तेन = अजेन, पार्थिवानां = राज्ञां, केतुषु = ध्वजदण्डेषु, सशोणितैः = रक्तलिम्पितैः, शिलीमुखाग्रैः=बाणाग्रैः, निक्षेपिताः = उल्लेखिताः ।

समासः--शोणितेन सहितः सशोणितस्तैः सशोणितैः, शिलीमुखानामग्रैः शिलीमुखाग्रैः ।

कोशः –'ग्रहभेदे ध्वजे केतु' 'रक्तक्षतजशोणितं' 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः ।

भावार्थः-'हे राजानः संप्रति मया भवतां यशः ह्रियते अनुग्रहतया जीवितं न गृह्यते' इति वर्णान् राज्ञां ध्वजदण्डेषु अजः उल्लेखितवान् ।

भाषार्थ--हे राजाओ ! अजने इस समय आप लोगों के यश मात्र का अपहरण किया है किन्तु आपलोगों के प्राण अनुग्रह वश छोड़ दिया । इस प्रकार के अक्षर उसने राजाओं के दण्ड में लिखवा दिया ॥ ६५ ॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥६६॥

सञ्जीविनी—स इति । चापकोटयां निहित एकबाहुर्येन सः । शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेनापनयनेन भिन्नमौलिः श्लथकेशबन्धः । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । ललाटे बद्धाः श्रमवारिबिन्दवो यस्य सः । सोऽजो भीतां प्रियामिन्दुमतीमेत्यासाद्य वचो बभाषे ।

अन्वयः--चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुः स भीतां प्रियां एत्य वचः बभाषे ।

वाच्य०—चापकोटीनिहितैकबाहुना शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिना, ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुना तेन भीतां प्रियाम एत्य वचः बभाषे (कर्म वा०) ।

चन्द्रिका—चापकोटीनिहितैकबाहुः = धनुषाग्रसंस्थापितभुजः, शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः = शिरस्त्रापनयनश्लथकेशबन्धः, ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुः = भालस्थितश्रमस्वेदसीकरः सः = अजः, भीतां = भीतियुक्तां, प्रियां, एत्य = आगत्य, वचः = वचनं, बभाषे = उक्तवान् ।

समासः--चापस्य कोटीः चापकोटीस्तत्र निहितः एकबाहुर्येन स चापकोटीनिहितैकबाहुः, शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेन भिन्नः मौलिर्यस्य सः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः, ललाटे बद्धा श्रमवारिबिन्दवो यस्य स ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुः ।

कोशः—'कोटीरस्याटनी' 'भीतिर्भीसाध्वसं भयं' 'भाषितं वचनं वचः' इत्यमरः ।

भावार्थः—'धनुःप्रान्ते बाहुमेकं संस्थाप्य, शिरस्त्र दूरे संस्थाप्य, ललाटे परिदृश्यमानश्रमस्वेदसीकरः अजः, भयभीतां प्रियतमामिन्दुमतीमेत्य एवं वचनम् उवाच ।

भाषार्थ--धनुष के अग्रभाग पर एक हाथ रख तथा टोप के हटा देने से बिखरे बाल एवं मस्तक पर पसीने की बूंदें झलक रही हैं ऐसे महाराज अज डरी हुई अपनी प्रियतमा इन्दुमती के पास जाकर इस प्रकार बोले ॥ ६६॥

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ६७ ॥

सञ्जीविनी—स इति । हे वैदर्भि! इन्दुमति ! इत इदानीमर्भकहार्यशस्त्रान्बालकापहार्यायुधान्पराञ्शत्रून्पश्य । मयानुमतासि । द्रष्टुमिति शेषः । एभिर्नृपैरेवविधेन निद्रारूपेणाहवचेष्टितेन रणकर्मणा मम हस्तगता । हस्तगतवद्दुग्रहेत्यर्थः । त्वं प्रार्थ्यसे । अपजिहीर्ष्यस इत्यर्थः । एवंविधेनेत्यत्र स्वहस्तनिर्देशेन सोपहासमुवा चेति द्रष्टव्यम् ।

अन्वयः—हे वैदर्भि ! इतः अर्भकहार्यशस्त्रान् परान् पश्य मया अनुमितासि 'द्रष्टुमिति शेषः' एभिः एवंविधेन आहवचेष्टितेन मम हस्तगता त्वं प्रार्थ्यसे ।

वाच्य०—हे वैदर्भि ! त्वया इतः अर्भकहार्यशस्त्राः पराः दृश्यतां, अहं अनुमतवानस्मि एते एवंविधेन आहवचेष्टितेन मम हस्तगता त्वां प्रार्थयन्ति ।

चन्द्रिका—हे वैदर्भि = हे इन्दुमति, इतः = इदानीं, अर्भकहार्यशस्त्रान् = बालकापहार्यायुधान्, परान् = शत्रून्, पश्य = अवलोकय, मया, अनुमतासि = मम संमतासि, एते = शत्रवः, एवंविधेन = एवंप्रकारेण, आहवचेष्टितेन = युद्धव्यापारेण, मम हस्तगता = मम वशं प्रापिता, त्वं, प्रार्थ्यसे = अपजिहीर्ष्यसे ।

समासः—अर्भकैः हार्याणि शस्त्राणि येषां ते, तान् अर्भकहार्यशस्त्रान् । एवं विधायमस्य तत् तेन । आहवस्य चेष्टितं तेन ।

कोशः—'अभिघाति-परारातित-प्रत्यर्थि-परिपन्थिनः' 'संग्रामाभ्यागमाहवाः' इत्यमरः ।

भावार्थः—हे वैदर्भि ! शिशुभिरपि परिहार्यशस्त्रान् एतान् मम अकिञ्चित्करान् शत्रून् पश्य । अत्र मम संमतिरस्ति एते एवंविधेन युद्धकर्मणा मम वशगां त्वां ग्रहीतुमिच्छन्ति ।

भाषार्थ- हे इन्दुमति ! वालकों के द्वारा भी अस्त्र छीन लेने योग्य, मेरे इन शत्रुओं को देखो । मेरी इस विषय में तुम्हें अनुमति है, इसी प्रकार के युद्ध के व्यापारों से ये राजा लोग मेरे हाथ में आयी हुई तुमको छीनना चाहते थे ॥६७॥

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमावभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥६८॥

सञ्जीविनी–तस्या इति। प्रतिद्वन्द्विभवाद्रिपूत्थाद्विषादाद्दैन्यात्सद्यो विमुक्तं तस्या मुखम्। निःश्वासस्य यो वाष्प ऊष्मा। 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः। तस्यापगमाद्धेतोरात्मीयं प्रसादं नैर्मल्यं प्रपन्नः प्राप्तः। आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽनेनेत्यात्मदर्शः। दर्पण इव। आबभासे।

अन्वयः--प्रतिद्वन्द्विभवात् विषादात् सद्यः विमुक्तं तस्याः मुखं निःश्वास-वाष्पापगमात् आत्मीयं प्रसादं प्रपन्नः आत्मदर्श इव आबभासे।

वाच्य०--प्रतिद्वन्द्विभवाद् विषादात् सद्यो विमुक्तेन तस्या मुखेन निःश्वासवाष्पापगमात् आत्मीयं प्रसादं प्रपन्नेन आत्मदर्शेन इव आबभासे।

चन्द्रिका--प्रतिद्वन्द्विभवात्=रिपूत्थात्, विषादात्=दैन्यात्, सद्यः=झटिति, विमुक्तं=निर्मुक्तं, तस्याः=इन्दुमत्याः, मुखं=आननं, निःश्वास-वाष्पापगमात्=निःश्वासोष्मनाशात्, आत्मीयं=स्वकीयं, प्रसादं=नैर्मल्यं, प्रपन्नः=प्राप्तः, आत्मदर्श इव, आबभासे=शुशुभे।

समासः--प्रतिद्वन्द्विनः भवः प्रतिद्वन्द्विभवस्तस्मात् प्रतिद्वन्द्विभवात्, निःश्वासस्य वाष्पः निःश्वासवाष्पस्तस्यापगमात् निःश्वासवाष्पापगमात्, आत्मा दृश्यतेऽनेनेति आत्मदर्शः।

कोशः--'सद्यः सपदि तत्क्षणे' 'वाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः।

भावार्थः--शत्रुजन्य दुःखनाशात्, प्रसन्नतां गतं इन्दुमत्या मुखं वाष्पाप-गमानन्तरं नैर्मल्यं प्राप्तः स्वरूपादर्श इव शुशुभे।

भाषार्थ--शत्रुओं से उत्पन्न भय के नष्ट हो जाने से अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त इन्दुमती का मुख वाष्पजल के नष्ट हो जाने पर निर्मलता को प्राप्त होने वाले स्वरूपादर्श (शीशे) की तरह प्रतीत हो रहा था॥६८॥

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम्॥६९॥

सञ्जीविनी--हृष्टेति। सेन्दुमती हृष्टापि पत्युः पौरुषेण प्रमुदितापि ह्रिया विजिता यतोऽतः प्रियमजं साक्षात्स्वयं नाभ्यनन्दन्न प्रशशंस। किंतु नवैरम्भःपृषतैः पयोबिन्दुभिरभिवृष्टाभिषिक्ता स्थल्यकृत्रिमा भूमिः। "जानपदकुण्डगोणस्थल०" इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीष्। अभ्रवृन्दं मेघसंघं मयूरकेकाभिरिव। सखीनां वाग्भिरभ्यनन्दत्।

अन्वयः—सा हृष्टापि ह्री विजिता प्रियं साक्षात् नाभ्यनन्दत् किन्तु नवाम्भःपृषतामिवृष्टा स्थली अभ्रवृन्दं मयूरकेकाभिः इव सखीनां वाग्भिः (प्रियं) अभ्यनन्दत् ।

वाच्य०--हृष्टयाऽपि तया ह्रिया प्रियः साक्षात् नाभिनन्दितः, किन्तु नवाम्भपृषताभिवृष्टया स्थल्या मयूरकेकाभि अभ्रवृन्द इव सखीनां वाग्भिः प्रियो अभिनन्दितः ।

चन्द्रिका—सा=इन्दुमती, हृष्टापि=पत्युःपौरुषेण प्रमुदिता अपि ह्रिया,=संकोचेन, साक्षात्=स्वयं, प्रियं=अजं, अभ्यनन्दत्=न प्रशशंस, किन्तुनवाम्भः-पृषताभिवृष्टा=नवजलकणैः संसिक्ता, विजिता, स्थली=अकृत्रिमा भूमिः, अभ्रवृन्दं=मेघसंघं, इव मयूरकेकाभिः=मयूरशब्दैः इव सखीनां वाग्भिः=वचोभिः, प्रियं अभ्यनन्दत्=प्रशशंस ।

समासः--नवं च तदम्भः नवाम्भः नवाम्भः पृषतानि नवाम्भःपृषतानि तैरभिवृष्टा नवाम्भःपृषताभिवृष्टा, मयूरस्य केकाः मयूरकेकाः ताभिः मयूर-केकाभिः, अभ्राणां वृन्दं अभ्रवृन्दम् ।

कोशः--'साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः' 'धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता' 'अम्भोऽर्णस्तोय-पानीय' इत्यमरः ।

भावार्थः--पतिविजयेन साक्षात्प्रमुदिताऽपि, इन्दुमती स्वयं प्रियं न प्रशशंस किन्तु नवाम्भकणप्रसिक्ता स्थली मयूरकेकाभिः यथा मेघसमूहं प्रशंसति तथा साऽपि सखीनां वचोभिः प्रियमभ्यनन्दत ।

भाषार्थ--पति के विजय से प्रहृष्ट इन्दुमती ने स्वयं अपने प्रियतम की प्रशंसा नहीं की, किन्तु जिस प्रकार नये जलकण से प्रसिक्त स्थली मयूर के शब्दों से मेघवृन्द का अभिनन्दन करती है उसी प्रकार उसने भी सखियों द्वारा अपने पति की प्रशंसा की ॥ ६९ ॥

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञा-
मुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा
समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव ॥ ७० ॥

सञ्जीविनी--इतीति। नोद्यते नोच्यत इत्यवद्यं गर्ह्यम्। "अवद्यपण्य-वर्यागर्ह्यपणि तव्यानिरोधेषु" इत्यनेन निपातः। 'कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' इत्यमरः। तस्मादपेतः निर्दोष इत्यर्थः। सोऽज इति राज्ञां शिरसि वामं पादमाधायानवद्यामदोषां, तामिन्दुमतीमुदवहदुपानयत्। आत्मसाच्चकारेत्यर्थः। अयमर्थः 'तमुद्वहन्तं थपथि भोजकन्याम्' इत्यत्र न शिल्ष्टः तस्याजस्य रथतुरगाणां रजोभी रूक्षाणिपरुषाण्यलकाग्राणि यस्याः सा सेन्दुमत्येव मूर्ता मूर्तिमती समरविजयलक्ष्मीर्बभूव। एतल्लाभादन्यः को विजयलक्ष्मीलाभ इयर्त्थः।

अन्वयः--अवद्यादपेतः स इति राज्ञां शिरसि वामं पादं आधाय, अनवद्यां ताम् उदवहत् तस्य रथतुरगरजोभिः रूक्षालकाग्रा सा एव मूर्त्ता समरविजय लक्ष्मीः बभूव।

वाच्य०--अवद्यादपेतेन तेन राज्ञां शिरसि वामं पादं निधाय अनवद्य स उदवहत्। तस्य रथतुरगरजोभिः रूक्षालकाग्रया तया मूर्त्या विजयलक्ष्म्या बभूवे।

चन्द्रिका--नोद्यते इत्यवद्यं तस्मात् अवद्यात् = दोषात्, अपेतः = रहितः, सः = अजः, इति = अनेनप्रकारेण, राज्ञां = नृपाणां, शिरसि = मस्तके, वामं = सव्यं, पादं = चरणं, आधाय = स्थापयित्वा, अनवद्यां=निर्दोषां, ताम्=इन्दुमतीम् उदवहत् = अनयत्, तस्य = अजस्य, रथतुरगरजोभिः = रथाश्वपांसुभिः, रूक्षालकाग्रा = परुषकचाग्रभागा, सैव = इन्दुमत्येव, मूर्त्ता = मूर्त्तिमती, समरविजयलक्ष्मीः = युद्धविजयश्रीः, बभूव = अभवत्।

कोशः--'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' 'कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा' इत्यमरः।

भावार्थ--निर्दोषोऽजः एवं प्रकारेण राज्ञां शिरसि स्ववामं चरणं निधाय (सर्वान्विजित्य) सर्वलक्षणलक्षण्याम् इन्दुमतीं परिणीतवान्। तस्य रथाश्वपांसुभिः रूक्षालकाग्रा इन्दुमत्येव साक्षात् समरविजयलक्ष्मीः आसीत्।

भाषार्थ--सर्वथा निर्दोष अजने इस प्रकार सर्वलक्षण युक्त इन्दुमती का वरण किया और उस अजके घोड़ों के टापों से उठी हुई धूलि से रूक्ष बालों वाली इन्दुमती ही उसकी साक्षात् विजयलक्ष्मी बनी॥ ७०॥

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजाया समेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभू-
न्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाथ ॥ ७१ ॥

सञ्जीविनी—प्रथमेति । प्रथममजागमनात्प्रागेव परिगतो ज्ञातोऽर्थो विवाह-विजयरूपो येन प्रथमपरिगतार्थो रघुर्विजयिनं विजययुक्तं श्लाघ्यजायासमेतं संनिवृत्तं प्रत्यागतं तमजमभिनन्द्य । तस्मिन्नज उपहितकुटुम्बः सन् । 'सुतविन्यस्तपत्नीकः' इति याज्ञवल्क्यस्मरणादिति भावः । शान्तिमार्गे मोक्षमार्गं उत्सुकोऽभूत् । तथाहि—कुलधुर्ये कुलधुरंधरे सति सूर्यवंश्या गृहाय गृहस्थाश्रमाय न भवन्ति ।

अन्वयः—प्रथमपरिगतार्थः रघुः विजयिनं श्लाघ्यजायासमेतं सन्निवृत्तं तम् अभिनन्द्य तदुपहितकुटुम्बः सन् शान्तिमार्गोत्सुकः अभूत्, हि कुलधुर्ये सति सूर्यवंश्या गृहाय न भवन्ति ।

वाच्य०—प्रथमपरिगतार्थेन रघुणा विजयिनं श्लाघ्यजायासमेतं संनिवृत्तं तम् अभिनन्द्य तदुपहितकुटुम्बेन सता शान्तिमार्गोत्सुकेन अभावि हि कुलधुर्ये सति सूर्यवंश्यैः गृहाय न भूयते (भा० वा०) ।

चन्द्रिका—प्रथमपरिगतार्थः = अजागमनात् प्राग् ज्ञाततत्त्वार्थः, रघुः=अजपिता, विजयमस्ति अस्येति विजयी तं विजयिनं = विजययुक्तं, श्लाघ्यजायासमेतं = प्रशस्तदारयुक्तं, सन्निवृत्तं = समागतं, तं = अजं, अभिनन्द्य = स्वागतेन संस्तूय, तदुपहितकुटुम्बः = सुतविन्यस्तपत्नीकः सन्, शान्तिमार्गोत्सुकः = मोक्षमार्गाभिमुखः अभूत् हि कुलधुर्ये = कुलोन्नायके सति, सूर्यवंश्याः = सूर्यवंशोत्पन्नाः, गृहाय=गृहस्थाश्रमाय, न भवन्ति ।

समासः—प्रथम परिगतोऽर्थः येन स प्रथमपरिगतार्थः, श्लाघ्या जाया, श्लाघ्यजाया,तया समेतं श्लाघ्यजायासमेतम्, तस्मिन् उपहितः तदुपहितः तदुपहितः कुटुम्बो येन सः तदुपहितकुटुम्बः, कुलस्य धुर्यः कुलधुर्यस्तस्मिन् कुलधुर्ये ।

कोशः—'धूर्वहे धुर्य-धौरेयः धुरीणाः सधुरन्धराः' इत्यमरः ।

भावार्थः --अजागमनात्प्राक् विदितवृत्तान्तो रघुरपि विजयिनं प्रशस्तदारयुतं तमजं स्वागतेनाभिनन्द्य तस्मिन् कुटुम्बभारं विन्यस्य मोक्षमार्गसंस्पृहोऽभूत्। कुलधुरन्धरे जाते सूर्यवंशीया राजानो गृहे न तिष्ठन्ति।

भाषार्थ--अजागमन से पूर्व ही समस्त वृत्तान्त को जान कर रघु ने विजय-श्री एवं प्रशस्तदारयुक्त उस अजका अभिनन्दन कर उसे सारा भार समर्पित कर मोक्षमार्ग की ओर प्रस्थान किया, क्योंकि लड़के को कुलधारण करने योग्य देख कर सूर्यवंशीय राजा घर में आसक्ति नहीं रखते ॥ ७१ ॥

इति देवरिया-मण्डलान्तर्गत-'मझौली राज्य' (सम्प्रति वाराणसी)-
वास्तव्येन पण्डित - श्रीसन्तशरणमिश्रशर्म्मणामात्मजेन
व्याकरणाचार्य- साहित्यवारिधि - आचार्य-पण्डित-
श्रीशिवदत्तमिश्रशास्त्रिणा विरचिते संस्कृत-
हिन्दी - व्याख्या - समलंकृते
रघुवंशे सप्तमः सर्गः
समाप्तः।